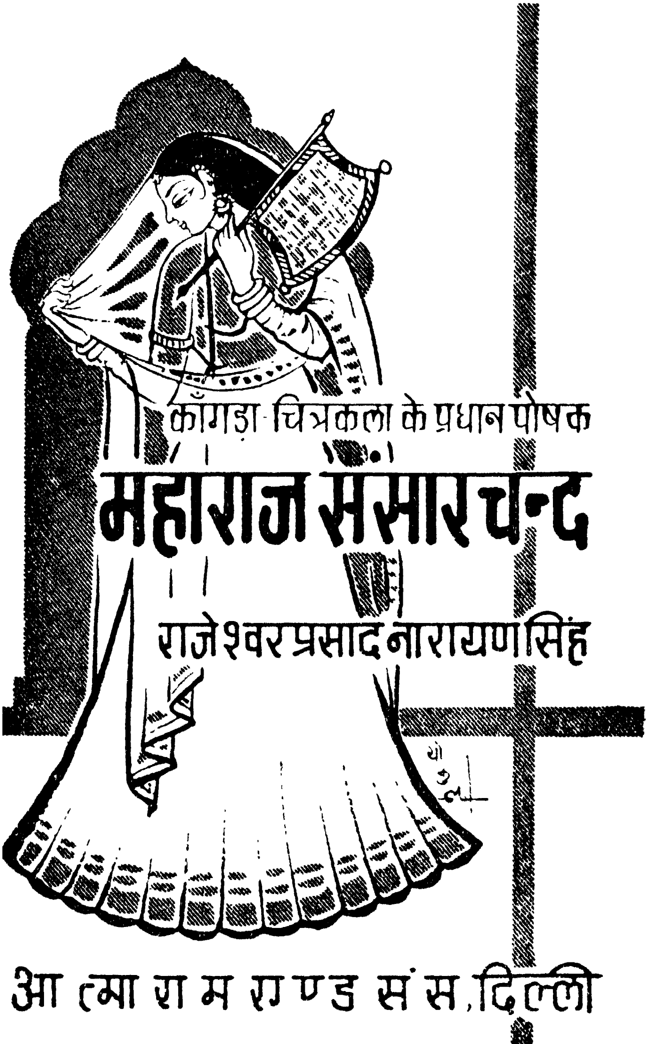


नदौन में महाराज संसारचन्द का दरबार



कांगड़ा-चित्रकला के प्रधान पोषक

महाराज संसारचन्द

राजेश्वरप्रसाद नारायण सिंह

आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली

प्रकाशक
रामलाल पुरी, संचालक
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

मूल्य	:	चार रुपए
प्रथम संस्करण	:	१ ९ ५ ९
आवरण	:	योगेन्द्रकुमार लल्ला
मुद्रक	:	हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली

प्रतिभा और जयश्री को

सस्नेह

दो शब्द

हमारे देश की कांगड़ा चित्र-शैली संसार की किसी भी चित्र-शैली के साथ समानता की तराजू पर तौली जा सकती है। कांगड़ा-कलम की तस्वीरें आज संसार के प्रायः सभी विख्यात चित्रागारों का शोभावर्द्धन कर रही हैं। वहाँ उन्होंने उच्चतम सम्मान प्राप्त किया है।

एक समय था जब संसार की चित्रकलाओं के बीच अजन्ता के अद्भुत भित्ति-चित्रों के होते हुए भी भारतीय चित्रकला का स्थान नहीं के बराबर था। कांगड़ा चित्रों को ही यह श्रेय है कि उन्होंने अपनी खूबियों से संसार के दृष्टिकोण को बदला ही नहीं, उन्हें भारतीय चित्रकला का लोहा मानने को बाध्य भी किया। आज ललित-कला का शायद ही कोई पत्र यूरोपीय भाषाओं में निकलता हो जिसमें यदा-कदा भारतीय चित्रकला पर प्रशंसात्मक लेख न प्रकाशित हुआ करते हों।

और इस कांगड़ा-कलम को सबसे अधिक बल और संरक्षण प्राप्त हुआ था महाराज संसारचन्द द्वारा। इस शैली के अधिकांश सुन्दर चित्र जो आज प्राप्य हैं वे उनके दरबार के चितेरों के बनाये हुए हैं। चित्रकला के एक महान् पारखी थे वह और पोषक भी। उनका समय कांगड़ा-चित्रकला का स्वर्णयुग था। आश्चर्य है कि ऐसे महापुरुष पर आज तक न तो हिन्दी में और न अंग्रेज़ी में कोई पुस्तक लिखी गई। मेरा ध्यान इस ओर तब आकर्षित हुआ जब पंजाब जाकर मुझे संसारचन्द के आदेश पर बनाये हुए चित्रों के देखने का मौक़ा मिला और उनके सम्बन्ध की बातें सुनने का भी। तभी मैंने यह इरादा किया कि उन पर

कुछ लिखूं। उनके सम्बन्ध मे जहाँ भी जो कुछ मसाला मिल सकता था, एकत्रित किया और इस ग्रंथ की सृष्टि हुई।

यह मेरे दो वर्षों के अनुसंधान का फल है। पुस्तक आपके हाथों में है। कैसी है, यह तो विज्ञ पाठक ही बतायेंगे; मुझे संतोष है कि बावजूद अनेक कठिनाइयों के भी, मैं अपने इरादे को पूरा कर पाया हूँ।

नई दिल्ली *—राजेश्वरप्रसाद नारायणसिंह*

१–५–५६

क्रम

१

कांगड़ा घाटी

समतल क्षेत्रों तथा पहाड़ी प्रदेशों में एक बहुत बड़ा अन्तर यह है कि जहाँ गैर-पहाड़ी इलाकों में, आसानी से पहुँचने के कारण, यातायात की सुविधाओं से अनवरत अशान्ति मची रहती है वहाँ पहाड़ों की गोद में शान्ति का साम्राज्य बना रहता है। यहाँ के निवासी बाहरी शोरगुल से बचे हुए अपने काम में संलग्न रहते हैं, खेती करते हैं, फल उपजाते हैं, बाकी वक्त गान-नृत्य और प्रणय-क्रीड़ाओं में बिताते हैं। न ऊधो का लेना, न माधो का देना रहता है। यही कारण है कि इन क्षेत्रों में कला अधिक आसानी से जड़ पकड़ पाती है—आसानी से उसका विकास हो पाता है।

पश्चिमी हिमालय की कांगड़ा-घाटी ऐसा ही एक क्षेत्र है जहाँ धान मींजती हुई कृषक-बाला महाकवि वर्डस्वर्थ की 'The Solitary Reaper' कविता की इन पंक्तियों का स्मरण कराती है :

एकाकिनी नाज के दाने, काट रही वह, बाँध रही है,
और गा रही एकाकी ही करूणापूरित गान।
सुनो सुनो, यह गहन सुघाटी, अति गंभीर, मनोरम घाटी,
ओत-प्रोत उसके स्वर-जल में करती सद्यः स्नान !

कुल्लू और कांगड़ा की ये पहाड़ी घाटियाँ प्रकृति के लीला-स्थल हैं। कांगड़ा (क्षेत्रफल ९, ९७८ मील) के संबंध में 'इंपीरियल गजेटियर ऑफ् इंडिया' में लिखा है—

"इसकी उत्तर-पश्चिम दिशा में चम्बा-राज्य, उत्तर में काश्मीर, पूर्व में तिब्बत, दक्षिण-पूर्व में बुशहर राज्य का इलाका, दक्षिण में शिमला जिला के कोटगढ़ आदि गांव तथा कुम्हारसेन, सांगरी, सुकेत, मंडी और बिलासपुर के राज्य पड़ते हैं। इसकी दक्षिण-पश्चिम दिशा में होशियारपुर और पश्चिम में गुरदासपुर के जिले हैं। पूर्व की ओर बारी और जलन्धर दोआब

के समतल क्षेत्रों से हिमालय की पर्वत-श्रेणियों को पार करता हुआ यह तिब्बत की सरहद तक पहुँच जाता है। इसके दो स्पष्ट हिस्से हैं जो बाहरी हिमालय की दोनों ओर पड़ते हैं तथा जिनकी प्राकृतिक छटाएँ एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं। इसका पश्चिमी हिस्सा ही वास्तविक कांगड़ा है जो बाहरी हिमालय की धौलाधार नामक पर्वत श्रेणी के दक्षिण भाग में है। कांगड़ा घाटी धौलाधार की उत्तर-पश्चिम दिशा से दक्षिण-दक्षिणपूर्व दिशा की ओर प्रायः समानान्तर जाता हुआ एक लम्बा और अनियमित पर्वत-पुञ्ज है, अपनी सुन्दरता के लिए प्रसिद्ध है; इसके आकर्षण का मुख्य कारण न तो इसकी उर्वरा खेती है और न इसकी शाश्वत हरियाली ही, वह है घाटी के सामने की धौलाधार की उत्तुंग हिम-आच्छादित पर्वत-श्रेणी जिसकी कहीं-कहीं तेरह हज़ार फुट तक की ऊँचाई है और जो रास्ते के हर मोड़ के साथ एक नयी छटा प्रदर्शित करती है। इसकी अपनी सरिता है व्यास जो जिले के इस हिस्से में पूर्व से पश्चिम की ओर बहती है। कांगड़ा घाटी की कई छोटी-छोटी सरिताएँ इसमें जाकर निसज्जित होती हैं।"

श्री राइस डेभिडस् के कथनानुसार हिमालय का काश्मीर और उसका पूर्ववर्ती इलाका वह क्षेत्र है जहाँ आर्यों ने सर्वप्रथम घर बसाया था। संस्कृत के प्राचीन ग्रंथों में भी एक बार नहीं, बार-बार इस बात का संकेत है कि पश्चिमी हिमालय के क्षेत्रों में ही आर्य सबसे पहले आकर बसे थे; दरअसल ऋग्वेद् की सृष्टि के पूर्व से ही वे यहाँ निवास कर रहे थे।

किसी ज़माने में इस घाटी में बहने वाली नदी व्यास के उभय तट पर, काफी दूर तक, छोटे-बड़े अनेकों क़िले बने हुए थे जो विविध राजाओं के निवासस्थल थे, शूरवीरता के जन्मस्थान थे। जर्मनी की प्रसिद्ध 'राइन' नदी के तटवर्ती उन क़िलों की जो मध्ययुगी सामन्तों के आवास तथा युद्ध और प्रणय-क्रीड़ाओं के केन्द्र थे, ये याद दिलाते थे। इन क़िलों में रहने वाले राज-परिवारों के बीच आपस में विवाह-संबंध भी होते थे, लड़ाइयाँ भी होती थीं। रोमांस से भरे हुए थे ये जिसकी झलक हमें कांगड़ा शैली के उन चित्रों में मिलती है जिनका संबंध अन्तःपुर की दैनिक घटनाओं, राजा-रानी के जीवन से है तथा जो हमें कल्पना के लोक में पहुँचा डालने वाले हैं। एक

अंग्रेज लेखक इन क़िलों का उल्लेख करता हुआ लिखता है कि ऊँची पहाड़ी अथवा लटकती हुई पहाड़ की चोटियों पर स्थित ये क़िले जो आज खाली पड़े हुए हैं, किसी समय राजदम्पतियों के बसेरा होने के कारण सदा हँसते हुए-से प्रतीत होते थे; ये वे स्थान थे जहाँ शूरवीरता जनमती, फूलती-फलती, निवास करती थी।

राजाओं की पारस्परिक कलह के बावजूद भी यह घाटी सदा-से कला का क्षेत्र बनी रही है, तथा यहां केवल चित्रकला ही नहीं वरन् और भी अनेक प्रकार की कलाएँ प्रसार पाती रही है। अफ़सोस कि वर्तमान मशीन-युग में जब मशीन की बनी हुई हर प्रकार की चीजे कम कीमत पर मिलने लगी हैं, ये पतनोन्मुख हो चली हैं और यह हमारे लिए खेद ही नहीं, परिताप का विषय है कि——

देवों का जिस थल पर होता वास, नृत्य औ' ज्ञान,
कस्तूरी के मृदु सुवास को, फैलाता पवमान,
विविध कुटीर-कलाओं का था, जो उद्गम संस्थान—
हा! मशीन ने पहुँच वहाँ भी, हरा प्रकृति का प्राण!

प्रकृति का क्रीड़ा-स्थल इस क्षेत्र में जिस कला ने सबसे अधिक उत्कर्ष पाया था वह थी चित्रकला जिसकी कई शैलियाँ यहाँ विकसित और प्रसारित हुई, पर इनसे मिलती-जुलती एक दूसरी कला भी थी 'फूलकारी' की जिसमें चित्रकला से किसी कद्र कम हुनर न था और जिसके सबसे बड़े नमूने वे रूमाल हैं जिन्हें यहाँ 'चम्बा रूमाल' के नाम से पुकारते हैं। इनका प्रसार कुल्लू और कांगड़ा की घाटियों में भी उसी तरह था जिस भाँति चम्बा में पर शायद इनका आरम्भ चम्बा से हुआ और इसीलिए ये चम्बा-रूमाल कहलाये। पंजाब के उत्तर-पूर्व में हिमालय का छोटा-सा राज्य चम्बा किसी जमाने में कलाओं का केन्द्र बना हुआ था। इस राज्य की स्थापना ईसा के बाद की छठी शताब्दी में हुई थी। हिममंडित पर्वतों से रक्षित यह प्राचीन राज्य मुसलमानों के आक्रमणों से बचा रहा और शायद यही वजह है कि यहाँ के शान्त वातावरण में कलाओं ने इतना प्रसार पाया था।

ऊपर जिस रूमाल की चर्चा की गयी है वह कसीदाकारी का अदभत

नमूना है तथा इसे बड़े-छोटे सभी परिवार के लोग चंबा, कांगड़ा आदि क्षेत्रों में बड़े प्रेम से बनाया करते थे। यहाँ के सामाजिक रीति-रस्मों में इसका प्रमुख स्थान था। विवाहादि के अवसर पर घर की औरतें इसे बनाती थीं तथा विवाह के समय वर-पक्ष की ओर से यह वधू को तथा वधू पक्ष के लोगों के द्वारा वर को भेंट किया जाता था। स्वभावतः स्त्रियाँ इसे बड़े प्रेम के साथ बनाया करती थीं।

इसके और भी कई इस्तेमाल थे। भगवद्-प्रतिमा को इससे ढंकते थे, किसी बड़े अतिथि के आने पर उन्हें इसे नज़र करते थे तथा उत्सवों पर औरतें इसे अपने सिर पर बाँधती थी। पर इसका मुख्यतम् उपयोग विवाह के अवसर पर ही होता था।

मशीन के बने हुए चित्रित रूमालों ने जो थोड़े कीमत पर तथा बगैर परेशानी के मिल जाते हैं, इसकी निर्माण-कला को बड़ा धक्का पहुँचाया है, इनका बनना बंद-सा हो गया है, इने-गिने प्राचीन परिवारों में सौ-पचास वर्ष के पुराने रूमाल ही अब उपलब्ध हैं जिन्हें हम बड़ी तलाश और कठिनाई से प्राप्त कर सकते हैं।

ये रूमाल रेशमी अथवा सूती कपड़े के बने—और ये कपड़े भी स्थानीय क्षेत्रों में ही कते हुए सूत के तथा यहीं के बुने हुए—होते थे जिन पर सुई के द्वारा रेशमी धागे से तरह-तरह के चित्र काढ़ते थे जिन्हें देखने से यह साफ प्रतीत होता है कि ये कांगड़ा शैली के चित्र हैं। कसीदा काढ़े हुए ये चित्र अधिकतर नवग्रह अथवा हिन्दू-देवी-देवताओं के हुआ करते थे। पर किसी-किसी में सामाजिक जीवन तथा स्थानीय पशु-पक्षी और फूल-पौधे के चित्र भी मिलते हैं। राधाकृष्ण से सम्बन्धित लीलाओं का इनमें प्राधान्य है। पिछले दिनों मुझे एक रूमाल कांगड़ा घाटी से प्राप्त हुआ जिसमें रासलीला का दृश्य कढ़ा हुआ है। पोशाक, आकृति तथा पृष्ठभूमि में इनका सादृश्य सोलहो आने, कांगड़ा शैली के चित्रों से है। इनके किनारों की सजावट भी वैसे ही हुआ करती थी जैसी कि चित्रों की। कांगड़ा के चित्रकार जिसे अपनी तूली से अंकित करते थे उसे इसके निर्माता अपनी सुई-कसीदा द्वारा बनाते थे। इनके बनाने की प्रारम्भिक क्रिया भी एक ही जैसी थी, दोनों ही पहले पेंसिल जैसी किसी चीज से ढाँचा खींचते थे और तब उस

पर कलम या सुई का प्रयोग करते थे। सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवरण, रंगों के चुनाव तथा लकीरों की वारीकी में ये रूमाल बिलकुल पहाड़ी चित्रों से मिलते हैं। आकार में काफी बड़े हैं। इन रूमालों की दूसरी विशेषता यह है कि ये 'दोरूखा' हैं, इनकी दोनों ओर के चित्र हू-बहू एक-से हैं ! औरतें ही इन्हें बनाती थीं और इन्हें देखने से यह साफ-परिलक्षित होता है कि उन्हें इस हुनर में कमाल हासिल था। ये रूमाल किसी मंजे हुए कसीदाकार के हाथों के बने प्रतीत होते हैं, अनाड़ी के नहीं। इनके सूते भी बड़ी बारीकी से काटे हुए हैं।

गर्ज़ यह कि पश्चिमी हिमालय के पहाड़ी क्षेत्रों की कला-निपुणता के प्रबल परिचायक हैं ये रूमाल आमतौर पर 'चंबा-रूमाल' के नाम से विख्यात हैं। और ये रूमाल भी क्या हमें इन पहाड़ी स्त्री-पुरुषों के रोमांटिक जीवन का स्मरण नहीं कराते है ?

कांगड़ा-घाटी के ये निवासी कई श्रेणियों में बंटे हुए थे, अब भी हैं।

पहली श्रेणी राणा और ठाकुरों की है जिन्हें हम शासक-वर्ग के नाम से पुकार सकते हैं। इनके छोटे-छोटे रजवाड़े थे जिनके संबंध में निश्चित रूप से यह कहना कि वे कब और कहाँ से आकर यहाँ बसे, कठिन है, पर इतना अवश्य है कि वे अति-प्राचीन काल से इन इलाकों में रहते आये हैं तथा आरम्भ में यहाँ कोई ऐसा लोकपाल न था जिसका एक-छत्र शासन रहा हो…अर्थात् यह क्षेत्र छोटे-छोटे बहुतेरे राजाओं तथा ठाकुरों के बीच बटा हुआ था जो आपस में लड़ा करते थे, और यही वजह थी कि उनके राज्यों की सीमा स्थायी नहीं थी, परिवर्तित होती रहती थी, जैसा कि हचीसन तथा भोगल ने लिखा है :

The oldest traditions in the hills refer to a time when petty chiefs, bearing the title of Rana or Thakur, exercised authority, either as independent rulers or under the suzerainty of a permanent power. These states were of very diminutive size, and their boundaries were liable to constant change, according as each ruler gained an ascendancy or yielded to superior force.

फरिस्ता लिखता है कि बहुत दिन पहले कन्नौज के राजा रामदेव ने सिवालिक के पहाड़ी इलाकों पर हमला करके पाँच सौ छोटे-छोटे सामन्तों को पराजित किया था।

उपर्युक्त शासक या सामन्तों का यह समूह राणा और ठाकुरों के बीच विभाजित था; बड़ों को राणा तथा छोटे को ठाकुर कहते थे। ग्रियर्सन का मत है कि 'राणा' प्राकृत 'राजन' (संस्कृत, राजन्य) शब्द का अपभ्रंश है; भाषा-शास्त्र के अन्य कई पंडितों ने भी ग्रियर्सन के इस विचार का समर्थन किया है।

कालान्तर में इन राणाओं के बीच शक्तिशाली लोग पैदा हुए जिन्होंने औरों पर विजय प्राप्त करके बड़े-बड़े राज्य कायम कर लिए। ये राजा कहलाने लगे; इनके नीचे के छोटे-छोटे सामन्त राणा अथवा ठाकुर ही कहलाते रहे। इनके संबंध में Kangra Settlement Report के पारा २६९ में श्री वार्नस् लिखते हैं--

"दूसरे प्रकार के राजपूत जिनकी इन पहाड़ी इलाकों में बड़ी इज्जत है वे प्राचीन छोटे मोटे सामन्तों--राणाओं--के वंशज हैं, जिनकी उपाधि तथा भूमि-अधिकार राजाओं से भी पुराने हैं। इन छोटे सामन्तों की सम्पत्ति बहुत दिन पहले अपहृत हो गई, इनकी जमीनें बड़े राजाओं ने अपने राज्य में मिला लीं, फिर भी 'राणा' की उपाधि आज भी इनके पास है तथा इनके साथ विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने के लिए 'मियाँ' इच्छुक रहा करते हैं।"

कभी-कभी ऐसा होता था कि बाहर से आकर कोई क्षत्रिय राजा स्थानीय सामन्तों--उपर्युक्त राणा और ठाकुरों को--हरा कर एक नये राज्य की नींव डाल लेता था; राणा और ठाकुर उसे कर देने लगते थे पर बाकी सभी कामों में वे स्वतंत्र बने रहते थे, अपने-अपने इलाकों पर शासन करते तथा आपस में पूर्व-सा ही लड़ते-झगड़ते रहते थे। इनके सम्बन्ध में सर जे० बी० लायल का यह कथन सर्वथा युक्तिसंगत है कि 'बिना किसी सार्वभौम राजा अथवा संघठन-सूत्र के ये छोटे-छोटे राज्य अशान्ति एवं स्वेच्छाचार के उस जमाने में अधिक काल तक नहीं टिक सकते थे। अतएव यह निश्चित है कि गड़बड़ी के दिनों में कुछ समय तक वे भले ही स्वतंत्र बने रहे हों, पर स्थायी

रूप से वे अवश्य ही अपने से बड़े किसी लोकपाल के अधीन रहकर उसे कर देते रहे होंगे।'

'राजानक' का पद शुरू-शुरू में केवल उन्हें ही प्राप्त था जो इन पहाड़ी इलाकों के किसी प्राचीन सामन्त-परिवार के वंश के होते थे, पर आगे चल कर त्रिगर्त, चम्बा, काश्मीर आदि के राजाओं के द्वारा अन्य लोगों को भी यह पदवी मिलने लगी थी। कल्हण की राजतरंगिणी में लिखा है कि काश्मीर की रानी दिद्दा ने (९८०-१००३ ई०) अपने कृपा पात्र नरवाहन को बुलाकर, मंत्रिमंडल की उपस्थिति में, उसे 'राजानक' की उपाधि प्रदान[1] की।

इसी भाँति 'ठाकुर' की उपाधि भी वितरित होने लगी थी। राजतरंगिणी के ही एक-दूसरे स्थान पर लिखा है, कि राजा कलस (११ वीं शती) ने अपने एक प्रिय पदाधिकारी चमक को, प्रसन्न होकर, 'ठाकुर' बनाया।

कुल्लू घाटी में आज भी कतिपय राणा और ठाकुर जागीरदार के रूप में प्राप्य हैं। राणा के ज्येष्ट पुत्र को 'टीका' कहते हैं। चम्बा में ठाकुर की उपाधि पाये हुए अनेक ऐसे जन विद्यमान हैं जो राज्य की समाप्ति के समय तक चम्बा-राज्य के अधीन थे।

ठाकुरों के सम्बन्ध में डा० हचीसन तथा भोगल का मत है (जर्नल ऑफ् दि पंजाब हिस्टोरिकल सुसाइटी, भाग ३, संख्या १, पृष्ठ ६६) कि इनके पूर्वज क्षत्रिय न थे, कुछ तो खालिश तिब्बती थे और कुछ इन इलाकों के आदिम निवासी, पर किसी जमाने में ये यहाँ के स्वाधीन सामन्तों में अवश्य थे। पीछे चलकर 'ठाकुर' एक पदवी बन गई जिसे किसी भी जाति के लोग प्राप्त कर सकते थे।

कांगड़े में अब भी राणाओं के कई प्रमुख परिवार वर्तमान हैं जिन्हें स्थानीय राजाओं के द्वारा जागीर मिली हुई थी। कहते हैं, एक बार किसी राणा ने अपना मकान एक ऊँचे पर्वत पर बनाया। उसकी दीप-शिखा कांगड़े के राजप्रासाद से नज़र आती थी, अतएव उसे हुक्म मिला कि वह कांगड़े की ओर

१. राजानक = राजा के समान। काश्मीर में आज भी यह शब्द 'राजदां' के रूप में विद्यमान है तथा कई कश्मीरी ब्राह्मणों के नाम के साथ जुटा पाया जाता है।

की खिड़कियाँ तथा दरवाजे बन्द कर दे। उसने हुक्म की तामीली नहीं की, परिणाम यह हुआ कि कांगड़े की फौज के सिपाहियों ने जाकर उसके परिवार के सभी लोगों के सर उतार लिए; एक फटी हुई दीवार के भीतर छिप कर केवल राणी बच रही। घटना राणाओं की तत्कालीन स्थिति को प्रकट करती है।

कनिंघम ने पश्चिमी हिमालय के तत्कालीन राज्यों की तीन समुदायों में विभाजित किया है जो इस प्रकार है :—

(१) काश्मीर-संघ;
(२) डूगर-संघ;
(३) त्रिगर्त-संघ।

प्रथम में कुल १३ राज्य थे, इनका धर्म इस्लाम था तथा अध्यक्ष-राज्य काश्मीर था। द्वितीय में, राज्य २२, धर्म १६ का हिन्दू, छः का इस्लाम, अध्यक्ष-राज्य जम्मू था। त्रितीय समुदाय (पश्चिमीय हिमालय का पूर्वीय क्षेत्र) की स्थिति यों थी :--

हिन्दू— (१) कांगड़ा,
(२) गुलेर,
(३) कोटला,
(४) जसवन,
(५) सिबा,
(६) दातारपुर,
(७) नूरपुर,
(८) चंबा,
(९) सुकेत,
(१०) मंडी,
(११) कुलू,
(१२) कुटलेहर,
(१३) बंगाहल,
मुसलमान— (१४) शाहपुर।

इनमें कांगड़ा राज्य जो आदिकाल मे त्रिगर्त के नाम से प्रसिद्ध था,

सबसे मुख्य था। इससे होकर पंजाब की तीन मशहूर नदियाँ—सुतलज, ब्यास और रावी——गुजरती थीं।

अन्य इतिहासकारों ने चनाब के पूर्वीय भाग में स्थित इन २२ राज्यों को दो क्षेत्रों में बाँटा है——जलन्धर क्षेत्र तथा डूगर-क्षेत्र: ये इस प्रका थे :——

जलन्धर क्षेत्र में :

(१) चम्बा,
(२) नूरपुर,
(३) गुलेर,
(४) दातारपुर,
(५) सिबा,
(६) जसवन,
(७) कांगडा,
(८) कुटलेहर,
(९) मंडी,
(१०) सुकेत,
(११) कूलू।

डूगर क्षेत्र में :

(१) चम्बा,
(२) बसौली,
(३) भादू,
(४) मानकोट,
(५) बन्दरलटा,
(६) जसरोता,
(७) सम्बा,
(८) जम्मू,
(९) चनेहनी,
(१०) कष्टवर,
(११) भदरावा।

इन राज्यों के बीच अनवरत संघर्ष चलता रहता था, साथ-साथ विवाह संबंध भी। प्राचीन लेखों से ज्ञात होता है कि इनके बीच कई बार घोर युद्ध हुए थे। इनके राजाओं के संबंध में श्री एच. डबल्यू. एमर्शन नामक एक इतिहासज्ञ का कहना है, कि "The authority of the Rajas was of a three-fold nature—religious, feudal and personal. He was head of the state religion, Venerated as divine, either in his own right or as Vice-regent of the national God. He was Supreme and sole owner of the soil, the fountain from which issued the right of the Cultivator to a share of the produce, and he was the ruler and master of his subjects who owed him personal allegiance and service." मतलब यह कि ये राजे राज्य की समस्त भूमि के मालिक तथा धर्म-नायक माने जाते थे तथा प्रजा की व्यक्तिगत भक्ति और सेवा के अधिकारी।

राज्यों की आर्थिक आय अधिक न थी; शायद ही इनमें से किसी एक की आमदनी पाँच-छः लाख रुपयों से ज़्यादा होगी। कांगड़ा किन्तु इस स्थिति का अपवाद था। मूरक्राफ्ट ने लिखा है कि महाराज संसारचन्द की वार्षिक आय ३५ लाख रुपयों की थी।

मुग़ल आये और उन्होंने इन पहाड़ी राज्यों पर भी हाथ फेरे। धीरे-धीरे ये सभी मुग़ल बादशाह के अधीन हो गये। पर ये स्वतंत्रता के जाये थे, प्रबल दर्जे के लड़ाकू, अतएव इस भय से कि ये आपस में मिल जायँ और विद्रोह का झंडा न उठा लें, मुग़ल बादशाहों ने यह सिलसिला चलाया कि हर राजा का पुत्र या निकट संबंधी उनके दरबार में बतौर शरीर-बन्धक के रहा करे। कहते हैं जहांगीर के दरबार में ऐसे २२ राजाओं के लड़के थे जिनकी उम्र बहुत कम थी; जहांगीर ने इनमें से हरेक को 'मियां' की उपाधि प्रदान की थी।

प्रायः दो सौ बरसों तक मुग़लों का इनके ऊपर आधिपत्य बना रहा। पर मुग़ल-बादशाहत के अन्दर रहते हुए भी ये आपसी झगड़ों लड़ाइयों-से बाज न आये। मुग़ल बादशाहों ने इन्हें रोकने के यत्न भी नहीं किये, बल्कि इनकी आपस की फूट से फायदा उठाते रहे। इनमें वीरता कूटकूट

कर भरी हुई थी, जिसका प्रदर्शन नूरपुर के राजा जगतसिंह तथा फौज के १४,००० राजपूत सिपाहियों ने शाहजहां के आदेश पर किये गये बलख तथा बदखशान के उजबेगों के खिलाफ़ के हमले में दिया था जिसके संबंध में एलफिन्सटन ने लिखा है :

"इस असाधारण कार्य में राजपूती वीरता का जैसा शानदार प्रदर्शन मिला वैसा पहले कभी देखने को नहीं मिला था--पहाड़ी रास्तों को शस्त्रों की बौछार से तोड़ना, बर्फ पर के खतरनाक रास्ते से गुजरना, अथक परिश्रम से नये दुर्ग का बनाना, इसके निर्माणार्थ राजा जगतसिंह का स्वयं अपने हाथों से कुल्हाड़ी चलाना, तुषारावृत्त भूमि पर झंझावातों का दुश्मन के भयंकर और बार-बार के आक्रमणों की तरह सामना करना, इन सारे कामों में उन्होंने अपने बल और उत्साह का विलक्षण परिचय दिया था।"

मुग़ल-शासन के विरुद्ध इनके जब-तब विद्रोह भी होते रहे पर अधिकांशतः इन राजाओं का दिल्ली-दरबार के साथ बढ़िया संबंध बना रहा। औरङ्गजेब के तख्तनशीन होते ही, किन्तु, इस स्थिति में परिवर्तन आ गया। इसका कारण उसकी अहिन्दू भावनाएँ तथा हिन्दू-धर्म के विरुद्ध के कारनामे थे। कांगड़ा के तत्कालीन राजा ने औरंगजेब के खिलाफ़ बगावत कर दी और इस बहादुरी के साथ वह लड़ा कि पंजाब में आज भी उसकी वीरता की गाथाएँ गायी जाती हैं। मुग़ल-शक्ति के सामने मगर वह ठहर न सका और अन्त में उसे बन्दी होकर दिल्ली जाना पड़ा।

औरंगज़ेब के शरीर छोड़ते ही मुग़ल-साम्राज्य का पाया धीरे-धीरे ढहने लगा। १७३९ में नादिरशाह की भारत पर चढ़ाई हुई, इसके बाद अफगान तथा मराठों के बीच शक्ति के लिए घोर संघर्ष हुआ, और इन सारी चीजों का नतीजा यह हुआ कि उत्तर भारत में एक जबर्दस्त अराजकता की स्थिति पैदा हो गयी। १७५२ में पंजाब अहमदशाह दुर्रानी के अधिकार में आया और फिर बरसों तक अफगानों ने पंजाब को बेतरह लूटा खसोटा, किसी के पास कुछ रहने न दिया। उस वक्त की एक कहावत प्रसिद्ध है जो इस परिस्थिति का परिचायक है--

खादा पीता लहेदा,
रह्लदा अहमदशाहे दा !

—जो खायें-पीयें वह अपना, बाकी अहमदशाह का।

दुर्रानियों के अधिकारगत होने पर भी हिमालय के मध्य तथा पूर्वी इलाके के राज्यों पर उनके फौलादी पंजे उतनी सख्ती से नहीं बैठ पाए जितनी और इलाकों पर। इनके खिलाफ कई राजाओं ने बगावतें भी कीं। कांगड़ा का इनके साथ कैसा संबंध रहा यह आगे के प्रकरणों में मिलेगा।

पश्चिमी हिमालय के इन राज्यों का इतिहास रोमांस से भरा हुआ है। शताब्दियों से यहाँ निवास करने वाले इन राज्य-वंशों के संबंध में हचीसन-भोगल ने लिखा है—

"यदि इन्हें अपनी प्राचीन वंश-परम्परा पर गर्व है तो इसमें जरा भी अनौचित्य नहीं है। इनमें से बहुतों के पूर्वज शान्ति-पूर्ण राज्यों पर तब शासन कर रहे थे जबकि हमारे पूर्वज जंगली से थोड़ा ही बेहतर थे। इनमें जो सबसे नये हैं उनकी वंशावली भी आज से हजारों वर्ष पूर्व से शुरू होती है। उनकी तुलना में समतल क्षेत्रों के अधिकांश राज्यवंश ऐसे लगते हैं मानो उनका जन्म कल ही हुआ हो। इनमें जो सबसे अधिक पुराने हैं वे भी प्राचीनता में पंजाब के इन पहाड़ी राजवंशों से हार खा जाने वाले हैं।"

उपर्युक्त राज-वंशों, राणाओं तथा ठाकुरों के बाद खेती-बारी के काम में लगे हुए लोगों की श्रेणी आती है। इनमें पहला स्थान कनेतों का है जो कांगड़ा के पूर्वीय क्षेत्र में पाये जाते हैं। इन्हीं में गिरथ, बहती तथा चंग जातियों के लोग हैं जो कांगड़ा खास और निकटवर्ती पहाड़ों में बसते हैं। इनके संबंध में निश्चित रूप से कहना कि ये अमुक वर्ण के हैं, कठिन है, पर आम तौर पर ये क्षत्रिय तथा शूद्र के मेल से पैदा हुए बताये जाते हैं। कांगड़े में एक कहावत है, कि पाँचवी पीढ़ी में गिरथिनी की "धी" रानी हो जाती है जिसका मतलब यह है कि गिरथ की लड़की राठी में विवाह करती है, राठी की ठाकुर में, ठाकुर क्षत्रिय में जिसके लड़के 'मियां' कहाते हैं—और तब मियां की पुत्री क्षत्रिय राजा से विवाह करके रानी बन जाती है। गरज़ यह कि कांगड़ा में एक वर्ण का दूसरे वर्ण से विवाह-सम्बन्ध का होना एक प्रचलित प्रथा-सी रही है।

ऊपर गिरथ, बहती और चंग-तीन जातियों का उल्लेख किया गया है। कांगड़ा-घाटी के Settlement Report के लेखक श्री लायल का कहना

है, कि ये तीनों जातियाँ असल में एक ही हैं, केवल स्थान-भेद से ये भिन्न नामों से पुकारी जाती हैं।

गिरथ गृहस्थ शब्द का अपभ्रंश है और इनका पेशा मेहनत करके—शरीर का पसीना गिरा कर—जीविका उपार्जन करना है। घाटी में सबसे बड़ी संख्या इसी जाति के लोगों की है। जिन दिनों श्री लायल ने उपर्युक्त Settlement Report तैयार की थी, इनकी संख्या १११,५०७ थी। गिरथों की उपजातियों का कोई हद-ओ-हिसाब नहीं है। कहावत है, कि कांगड़ा घाटी में ३६० किस्म के चावल पाये जाते हैं और इतनी ही किस्म के इनके उपजाने वाले गिरथ भी। ये समीपवर्ती इलाकों में भी फैले हुए हैं तथा यहाँ की सबसे अधिक उपजाऊ जमीनें इन्हीं के हाथों में हैं। इनमें से कुछ लोग मजदूर के काम भी करते हैं। बड़े परिश्रमी होते हैं ये; चाहे कृषि-कार्य में लगे हुए हों अथवा मजदूरी में, कठिन परिश्रम करके ये अपने काम को पूरा करते हैं। गिरथ औरतें लकड़ी, साग-सब्जी, आम, दूध आदि बाजारों में ले जाकर बेचती हैं और मोल-तोल करने में पुरुषों के भी कान काटती हैं।

देखने में ये बीमार-के-से क्षीणकाय लगते हैं, रंग इनका गाढ़ा सांवला होता है, और इन्हें देखकर कोई समझ न पायेगा कि ये इतने परिश्रमी हैं। सुन्दरता का इनमें अभाव है। औरत-मर्द दोनों ही सुरापान के शौकीन होते हैं, पर अपने पैसों को बहुत सोच-विचार कर खर्च करते हैं, आमतौर पर शराबी लोग जिस तरह पीने-पिलाने पर पैसे लुटाते हैं, ये वैसा नहीं करते। स्वभाव से ये झगड़ालू होते हैं पर झूठे और बेईमान नहीं। पैसों पर लड़की बेचना तथा यौन-संबंधी बातों में इनकी दुर्बलता प्रसिद्ध है और शायद इसीलिए समाज में इनका स्थान ऊँचा नहीं है।

कांगड़े की दूसरी प्रसिद्ध जाति गद्दियों की है जिनका वास ऊँचे पहाड़ों पर है, समतल भूमि पर नहीं। श्री बार्नस् ने इनके संबंध में यथार्थ ही लिखा है, कि पहाड़ों में रहने वाले ये गद्दी बड़े विलक्षण हैं; सूरत-शकल, तौर-तरीके, पोषाक, भाषा आदि में और सबसे भिन्न हैं। चम्बा तथा कांगड़ा को विभाजित करने वाली हिमाच्छादित पर्वतश्रेणी इनका वासस्थान है। इनमें से कुछ पर्वत की निचली घाटी में घूमने-घामने भले ही चले आयें पर रहते

ये ऊँचे पहाड़ों पर ही है। साढ़े-तीन या चार हजार फुट की ऊँचाई से लेकर सात हजार फुट की ऊँचाई तक पर ये रहते हैं। यहीं तक खेती-बारी होती है जिसका मुख्य कारण उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ पहाड़ का ढाल है। कहते हैं, इनके पूर्वज मुसलमानों के बारम्बार के हमलों से तंग आकर पंजाब से यहाँ आ बसे थे। गद्दी एक व्यापक नाम है जिसके अन्दर ब्राह्मण, क्षत्रिय, राठी आदि सभी वर्ण के लोग है। पर अधिक संख्या इनमें खत्रियों की है। इनमें जो वर्णशंकर है वे गद्दी न कहला कर बद्दी, सीपी, हाली आदि नामों से पुकारे जाते है। इनके मुख्य पेशे खेती-बारी करना तथा भेड़ पालना है। भेड़ और बकरियाँ इनके मुख्य धन हैं जिन्हें जाड़ों में ये कांगड़ा-घाटी में, गर्मियों में चम्बा में चराते है। एक-एक जत्थे में हजार भेड़ तक होती हैं। इनकी सुरक्षार्थ ये बड़े-बड़े कुत्ते पाल रखते है, रूस और स्पेन के जिप्सियों की तरह, जो मौका आने पर चीतों तक का मुकाबला कर लेते हैं। खुले मैदान में ये डेरा डालते हैं तथा तमाम रात आग जलाये रखते हैं। मार्च के महीने में अपनी भेड़-बकरियों को लेकर ये पहाड़ों पर लौट जाते हैं।

कांगड़ा तथा चम्बा, दोनों ही इलाकों में इनकी खेती है। पुराने ज़माने में यह रिवाज था कि यदि कांगड़ा राज्य में इन पर जुर्माना होता तो उतनी ही जुर्माने की रकम जो ये कांगड़े को देते थे, चम्बा राज्य को भी इन्हें देना पड़ता था। मतलब यह कि ये दोनों ही राज्यों के रिआया माने जाते थे।

इनके कपड़े अपने भेड़ों के ऊन के होते है। पुरुष एक ऊँची टोपी पहनते हैं जिसकी दोनों ओर दो लटकते हुए हिस्से होते हैं जिन्हें कड़ी सर्दी पड़ने पर ये कानों के ऊपर खींच लेते हैं। सामने का हिस्सा सूखे फूलों की माला, मोनाल पक्षी के सर का तुर्रा अथवा जंगली पौधों के लाल बीजों से अलंकृत रहता है। शरीर पर ये एक झूल डाले रहते हैं जिसमें दुनिया भर की चीजें ढोते हैं—भोजन, भेड़ के सद्य:जात बच्चे, अखरोट के फल, आलू आदि-आदि। शरीर के नीचे का हिस्सा अधिकांशत: खाली रहता है, अधिक सर्दी पड़ने पर कभी-कभी ऊनी ढीले पाजामे पहन लेते हैं। औरतें भी इसी प्रकार का एक झूल पहनती हैं जो काफी लम्बा होता है। सर पर वे एक चादर डाले रहती हैं जिसे कभी-कभी साफे की तरह बाँध भी लेती हैं। यह उनके सौंदर्य-वर्द्धन का कारण होता है।

घूंघट की प्रथा इनमें नहीं है; हाँ, पावों तक लम्बा घंघरा पहनने का रिवाज अवश्य है। कमर में ये (और पुरुष भी) काले रंग की एक ऊन की रस्सी जिसकी लम्बाई २०-२५ गज होती है तथा जो अंगुलियों-जैसी मोटी होती है, लपेटे रहती हैं जिससे पहाड़ों पर चढ़ने-उतरने में इन्हें कष्ट नहीं होता। गहनों में ये चांदी के गहने बड़े शौक से पहनती हैं। गले में मूल्यवान पत्थर भी धारण करती हैं। जादू-टोने का इनके बीच काफी प्रचार है। पर इनका चरित्र उच्चकोटि का है तथा ईमानदारी और महमानवाजी दोनों ही इनमें कूट-कूट कर भरी हुई है। स्त्रियों में चांदी के गहने पहनने का रिवाज अधिक है पर वे गले में कीमती पत्थरों की मालाएँ भी पहनती हैं। परिश्रमी होने के कारण इन गद्दियों की माली हालत अच्छी है तथा आज भी इनमें से बहुतों के पास सोना-चाँदी और पुराने सिक्के काफी तादाद में पाए जाते हैं। नमक के सिवाय कोई भी चीज ये बाहर से नहीं खरीदते; ऊनी कपड़े स्वयं बनाते हैं, खाने की सारी चीजें स्वयं उपजा लेते हैं।

भोले-भाले होते हैं ये। धर्म-भीरू भी। झूठ बोलना या चोरी करना मानो इन्होंने सीखा ही नहीं। पर-पुरुष या पर-स्त्री गमन इनके बीच नहीं-के-बराबर है। सदा प्रसन्न रहते हैं तथा समय-समय पर ये एक साथ मिलकर खूब नाचते-गाते हैं, पर नाचते पुरुष हैं, स्त्रियाँ सुन्दर वेष और गहनों से सुसज्जित होकर उनके सामने केवल खड़ी रहती हैं और उन्हें नृत्य प्रेरणा देती रहती हैं। औरतों के चेहरे में काफी आकर्षण होता है। कहते हैं, भेड़ चराती हुई किसी गद्दी-लड़की पर एक बार सौन्दर्य के प्रबल उपासक महाराज संसारचन्द आसक्त हो गये और उससे शादी कर ली जो गद्दीरानी के नाम से पुकारी जाती थी। यह घटना इस बात की साक्षिणी है कि ये गद्दी—खासकर औरतें—देखने में काफी आकर्षक होते हैं।

मदिरा-पान का—खास कर विवाह के अवसर पर—इनके बीच काफी प्रचार है। धार्मिक बातों में किन्तु ये कट्टर होते हैं। यज्ञोपवीत धारणा करते तथा देवी-देवताओं की पूजा बड़े समारोह के साथ करते हैं। इस अवसर पर राम, कृष्ण और शिव-संबंधी गीत ये अपनी भाषा में बड़े जोशोखरोश के साथ गाते हैं। इनकी भाषा में संस्कृत भाषा के शब्दों का बाहुल्य है। गाने का इन्हें खास शौक है, बात-बात पर गाते हैं तथा अपने गीतों से

पहाड़ों को गुञ्जायमान करते रहते हैं। इनके गीत अन्य लोकगीतों की भाँति ही रोमानी भावनाओं से परिपूर्ण हैं। दरअसल इनका सारा जीवन ही रोमांस से भरा हुआ है। पहाड़ों पर ये रूमानी जीवन बिताते हैं, इन्हें नीचे का गाँव या शहर पसंद नहीं है, पहाड़ का एकाकीपन ही अधिक प्रिय है, जनाकीर्ण धरती की चहल-पहल नहीं। देखिए, उनके इस गीत में इस भावना की किस प्रकार अभिव्यक्ति है—

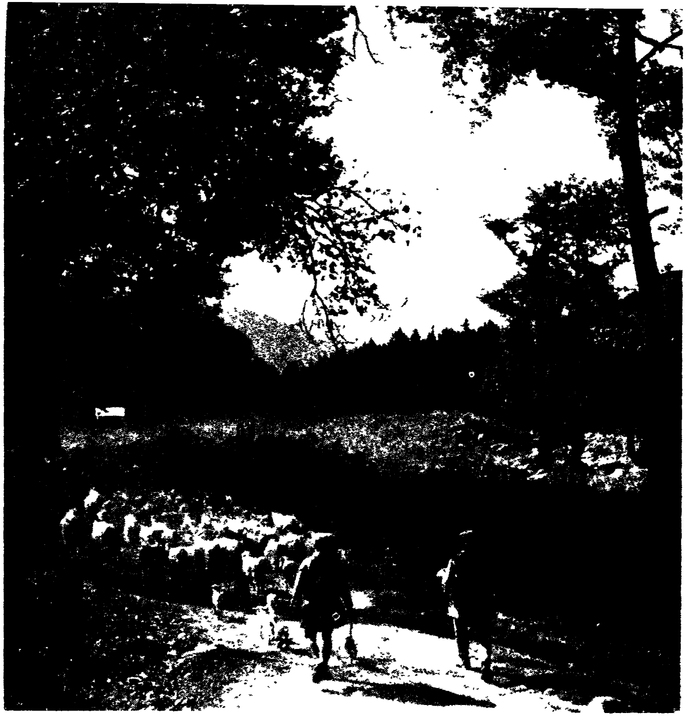
पहाड़ां दा रहण चंगा ओ गद्दिया,
पहाड़ां दा रह्ण चंगा ओ।
शहरां शहरां बिच नालू जी वगदे,
पहाड़ां बिच वगदियां गंगा ओ।
इक्ले शहरां बिच गर्मी जी होंदी,
पहाड़ां दा शीत न जांदा ओ।
शहरों बिच होंदियां बढ़िया धोखाबाजियां,
पहाड़ा दां धरम ही चंगा ओ !

गद्दी मौजी होते हैं, मौज का जीवन बिताते हैं। निम्नोक्त गीत में उनके इसी जीवन की ओर इशारा है—

गोरी दा चित लगा चम्बे दियां तारां।
घर-घर चकरू,
गर-घर बकरू,
घर-घर मौज बहारां।
गोरी दा चित लगा चम्बे दियां तारां।
घर-घर टिकुलु,
घर-घर बिन्दुलु,
घर-घर वांकियां नारां।

गद्दियों के बीच कूंजू-चंचलों के प्रेम के गीत बहुत प्रचलित हैं। ये गद्दी प्रेमी और प्रेमिका थे जो प्रेम के अटूट डोरों से बँधे हुए थे। एक का घर दूसरे से दूर था, फिर भी कुंजू-चंचलों से मिलने भरी हुई नदी और भयानक

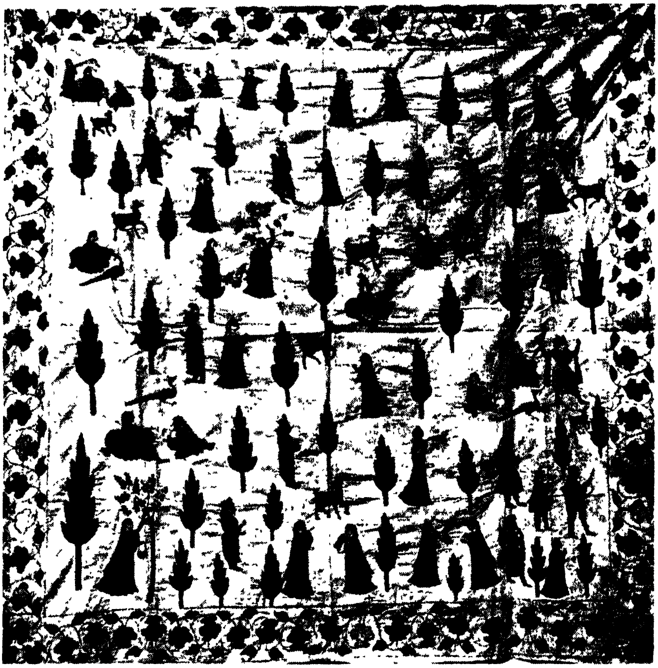
टिकुलु = टिकली; बिन्दुलु = बिन्दी।



भेड़ चराते हुए गद्दी पुरुष



एक गद्दी सुन्दरी



चंबा रूमाल पर कृष्ण-लीला के दृश्य

जंगलों को पार करके आया करता था। इन जंगलों में भयानक हिंसक पशु रहा करते थे पर उनसे भी भयानक कुंजू के लिए उसके शत्रु थे जो उससे ईर्ष्या किया करते थे—ख़ासकर इसलिए कि चंचलो जैसी अद्वितीय सुन्दरी उससे प्रेम करती थी। नीचे के लोक-गीत में चंचलो अपने प्रेमी कूंजू को समझाती है कि वह रात में अपने घर से बाहर न निकला करे चूंकि उसके दुश्मन बहुत हैं और उनके पास भरी हुई बन्दूकें हैं। चंचलो की यह उत्कट अभिलाषा है कि उन दोनों का अपना एक अच्छा-सा घर हो जिसमें वे सुख का जीवन बिता सकें।

एक दिन ऐसा आता है जब कूंजू को लाहौल (तिब्बत के करीब) जाना पड़ रहा है। चंचलो को जब इसका पता लगता है तो वह अधीर हो जाती है, जल के झरने पर कपड़े धोती हुई रो-रोकर अपने प्रेमी से कहती है कि मुझे कोई निशानी देता जा। कूंजू उसे अपनी अंगूठी निशानी में देता है, और वह बदले में, अपना नीले रंग का रूमाल कूंजू को देती है। गीत इस प्रकार है—

रातीं ओ बराती जांदा कुंजुआ,
बैरी भरियां बंदूका ओ।
ओ मेरिया जानि, बैरी भरियां बंदूका ओ।
तू ता चलया परदेस कुंजुआ,
मिंजो देई जा निशानी ओ।
ओ मेरिया जानि, मिंजो देई जा निशानी ओ।
पंज वो रूपिए तिकी,
नाम चंचलो अंगूठी देंदा,
लोक ता कैंदे तिजो चुड़ेल चंचलो,
तू ता नागर बेल ओ।
ओ मेरिए जिंदे तू ता नागर बेल ओ।
कपड़े धोवें नाले, रोवें चंचलो,
मुखे बोल जवानी ओ।
ओ मेरिए जिंदे मुखे बोल जवानी ओ।
हत्थ तेरे लट्ठे दा रूमाल चंचलो,

रंग दुआई लै ओ असमानी।
ओ मेरिए जिंदे, रंग दुआई लै असमानी ओ।

तिब्बत की सरहद पर स्थित लाहौल का जाना ऐसा लगता है, कि बड़े खतरे का माना जाता था, चूँकि गद्दियों ही के एक दूसरे लोक-गीत का आरम्भ इन शब्दों से होता है—'रूपरपू लाहौल मत जादां ओ।'

कांगड़ा के पहाड़ी इलाकों में एक अन्य प्रेमी-प्रेमिका की प्रेम-कथा पर भी आधारित अनेक लोक-गीत गाए जाते हैं जिसमें उनकी प्रीति-कहानी बड़े करुण ढंग पर कही गयी है।

प्रेमी का नाम राझूं तथा प्रेमिका का फुलमूं था। फुलमूं राझूं के साथ प्रेम करती थी और राझूं फुलमूं के। राझूं ने वादा किया था कि वह फुलमूं के साथ ही व्याह करेगा, पर उसके माता-पिता को यह मंजूर न हुआ और उन्होंने उसकी शादी एक दूसरी लड़की के साथ कर दी। शादी के अवसर पर फुलमूं भी उपस्थित हुई। औरतें राझूं को बुटने (उपटन) लगा कर नहलाने लगीं, फुलमूं दूर खड़ी रही। राझूं ने इसे देखा और कहा—'तू इधर-उधर क्या देख रही है? आ, मुझे बुटना लगा।' फुलमूं बोली—'बुटना लगान तेरियाँ ताई, चाचियाँ, तेरियाँ सकियाँ, भाबियाँ जिन्हा दे मने विच चा राझूं गल्ला होई वीतियां' अर्थात्, बुटना तो तेरी ताई, चाचियाँ और सगी भाभियाँ लगायें जिनके दिलों में तेरे ब्याह की खुशी है और उत्सुकता है। मैं तो दुःखी हूँ, कैसे बुटना लगाऊँ? हमारी तो प्रेम की बातें ही अब समाप्त हो चुकी हैं।

बारात रवाना हुई। रास्ते में राझूं ने देखा, फुलमूं का शव जा रहा है। फुलमूं ने आत्महत्या कर ली थी।

राझूं ने कहारों से कहा—मेरी पालकी रोको, मुझे पहले फुलमूं की अन्त्येष्टि क्रिया कर लेने दो—हमारे प्रेम का अन्त हो चुका, उसकी आहुति दे देने दो।

पालकी रुकी। बायें हाथ से राझूं ने चिता रचाई। दाहिने से उसमें आग लगाई। और इस तरह उनके प्रेम की कहानी जलकर भस्म हो गयी।

दीवाली, दशहरा आदि पर्व ये गद्दी बड़ी धूमधाम से मनाते हैं। इनका एक खास पर्व है लोहड़ी जिसे माघ संक्रान्ति के दिन मनाया जाता है। उस

दिन ये खिचड़ी पकाकर उसके साथ घी, मांस आदि मिश्रित कर विवाहिता पुत्री या पुत्रियों को ससुराल से बुलाकर अर्पित करते, फिर सगे-सम्बन्धियों के संग बैठकर उसे खाते हैं तथा उन्हें नये कपड़ों की भेंट देते हैं। वैशाख में वैशाखी—वसाग्रो-मनाते तथा घड़ों का दान करते हैं। पहला घड़ा अपनी पुत्री को देते हैं। इसके वाद रंग-बिरंगे कपड़े पहन मर्द और औरतें मेले की सैर करने निकल पड़ते हैं।

चम्बा के अधिकांश हिस्से, कांगड़ा की बर्फ से ढकी हुई पर्वत श्रेणी के तट पर तथा वदरावार पहाड़ी के दक्षिणी भाग में बसे हुए ये गद्दी कट्टर हिन्दू हैं। सभी यज्ञोपवीत धारण करते हैं; ऐसे ब्राह्मण, क्षत्री और खत्री गद्दियों के बीच शादियाँ हुआ करती हैं। विवाह नाई अथवा ब्राह्मणों के द्वारा तय होता है। फिर शादी का फैसला पंचों के आगे लिखा जाता है। विवाह के अवसर पर रिश्तेदार अच्छी-अच्छी चीजें भेंट में लाते हैं जो लड़की के संग बतौर दहेज के भेज दी जाती हैं।

गद्दी के सम्बन्ध में कहावत मशहूर है, कि उसके टोपी माँगो तो वह अपना कोट निकाल कर दे देगा, इतना सरल है वह, पर मेहनती और साहसी भी परले दर्जे का होता है। भारी-से-भारी बोझ भी वह पीठ पर उठा लेता है। सिर पर माल ढोने का रिवाज गद्दियों में नहीं है।

इनका आग जलाने का तरीका आज भी वही है जो आदि-मानव के समय में था। लोहे के एक औजार, जिसे ये 'रूठा' कहते हैं, को लाल रंग के पत्थर पर रगड़ कर ये चिनगारियाँ पैदा करते, फिर उन्हें भूजलू नामक एक प्रकार की घास पर गिराकर आग पैदा कर लेते हैं। इन्हें दियासलाई की आवश्यकता नहीं होती।

उपर्युक्त गद्दी आदि जातियों का निवासस्थान कांगड़ा घाटी विविध सामन्तों के पारस्परिक संघर्षों के वावजूद भी, एक ऐसा क्षेत्र थी जहाँ की आम जनता शान्तिपूर्वक अपना रूमानी जीवन बिताती थी। तरह-तरह की कलाएँ वहाँ प्रसार पाती रहीं जब तक कि पंजाब-केसरी रणजीतसिंह की फौज ने आकर उस पर अपना अधिकार न जमा लिया, इसकी शान्ति भंग न कर दी। इसकी एक करुण कथा है जिसे आप आगे के पृष्ठों में पढ़ेंगे।

२

कांगड़ा-राज्य, किला और राजवंश

डाक्टर सर मुहम्मद इक़बाल ने जिसके संबंध में कहा था :

परबत वह सबसे ऊंचा, हमसाया ग्रासमाँ का,
वह सन्तरी हमारा, वह पासबाँ हमारा।

तथा जिसकी गोद में हजारों नदियाँ खेलती हैं—महाकवि कालिदास ने जिसकी चर्चा इन सुन्दर शब्दों में की है—

ग्रस्तुत्तरस्यां दिशि देवतात्मा
हिमालयो नाम नगाधिराजः,

वह हिमालय हमारा केवल सन्तरी ही नहीं रहा है और न उसकी गोदी में केवल सरिताएँ खेलती रही हैं वल्कि उसका क्रोड़ शताब्दियों से इस देश की बहुतेरी जातियों का वासस्थान भी बना रहा है, तथा जहाँ उसके पूर्वीय हिस्से में नागाओं के समान कठोर लोग वसते ग्राये हैं वहाँ पश्चिमीय भाग में ऐसे स्थान भी हैं जो किसी जमाने में संस्कृति एवं कला के केन्द्र बने हुए थे। इनमें सबसे उल्लेखनीय कटोच राजाओं की भूमि कांगड़ा है जिसके राज्य-पुञ्ज में कांगड़ा के ग्रलावा गुलेर, जसवन, सिवा और दातारपुर के राज्य शामिल थे पर जो कालान्तर में उससे विलग हो गये। दरग्रसल ये कांगड़ा राजवंश की ही शाखाएँ थे।

गुलेर के संबंध में कहते हैं, कि सन् १४०५ ई० के ग्रास-पास कांगड़ा के राजा हरीचन्द ग्राखेट के लिए जंगलों में गये तथा ग्रपने साथियों से बिछुड़कर किसी कुएँ में जा गिरे। बहुत खोज की गयी, पर उनका पता न मिला। ग्रन्त में उनके परिवार के लोगों ने यह समझकर कि उनकी मृत्यु हो गई उनका श्राद्ध कर डाला तथा उनकी रानियाँ सती हो गईं। उनका कोई पुत्र न था, ग्रतएव राजासन पर उनके ग्रनुज करमचन्द बैठे।

पर हरीचन्द मरे नहीं, जीवित थे, कहते हैं, इक्कीस दिनों के बाद क ई

व्यापारी उस रास्ते जा रहा था, प्यास से विकल होकर वह कुएँ से जल भरने गया तो उनका पता पाकर उसने उन्हें कुएँ से बाहर निकाला। ऊपर आकर जब पूर्वोक्त बातों का पता लगा तो उन्होंने बजाय करमचन्द के हाथों से राज्य छीनने के यह निश्चय किया कि वह अब कांगड़ा न लौटेंगे; गुलेर इलाके में एक नगर हरीपुर का निर्माण किया तथा एक नये राज्य की संस्थापना की जो आगे चलकर गुलेर राज्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ। सिबा तथा दातारपुर के राज्य इसी गुलेर राज्य की दो शाखाएँ हैं। सिबा १५वीं शताब्दी के तथा दातारपुर १६वीं के मध्य भाग में स्थापित हुए थे।

कांगड़ा राज्य के उत्थान और पतन की कथा एक दर्दभरी कहानी है। करोच राज्य-वंश, इसमें शक नहीं कि एक अतिप्राचीन वंश था तथा कनिंघम (Sir A. Cunningham) के इस कथन में तनिक भी अत्युक्ति नहीं है कि—

The Royal family of Jalandhar and Kangra is one of the oldest in India, and their genealogy from the time of the founder, Susarma-Chandra, appears to me to have a much stronger claim on our belief than any of the long strings of names now shown by the more powerful families of Rajputana.

—'जालन्धर तथा कांगड़े का राज्य-वंश भारतवर्ष के अति प्राचीन वंशों में से एक है, तथा इसके संस्थापक सुशर्माचन्द्र के समय से आती हुई वंशावली, मेरी सम्मति में, हमारे विश्वास पर ज्यादा अधिकार डालती है बनिस्बत राजपूताना के अधिक शक्तिशाली राज्यवंशों के पूर्वजों की किसी भी लम्बी नामावली के।' करोच-वंश की उत्पत्ति के सम्बन्ध में 'ब्रह्माण्ड-पुराण' में लिखा है, कि दैत्यों को जब देवी पार्वती देवताओं द्वारा विनष्ट न करा सकीं, चूँकि वे ब्रह्मा के एक वरदान से संरक्षित थे, तब उन्होंने समझा कि बिना मानव के ये नष्ट न होंगे, अतः एक शक्तिशाली मानव की उन्होंने रचना की। चैत्र मास के शुक्ल पक्ष की अष्टमी की आधी रात के समय देवी के पसीने की एक बूंद पृथ्वी पर टपक पड़ी और भूमिचन्द्र बन गया। देव-गायक पद्मकेतु ने अपनी पुत्री वसुमती को उनसे ब्याहा। भूमि-

चन्द्र ने दैत्यों का वध किया और इसके पुरस्कार में देवी के द्वारा त्रिगर्त का राज्य उन्हें प्राप्त हुआ।

एक ज़माना था जबकि इस राज्य-वंश का सितारा अत्यन्त दीप्तिमान था, पर एक समय ऐसा भी आया जब इसका अस्तित्व महाराज रणजीतसिंह तथा गुर्खों से आघात पाकर महज एक छोटे से ज़मींदार के रूप में रह गया।

जार्ज फोर्स्टर अपने यात्रा-विवरण में इसका जिक्र करते हुए लिखता है (१७८३)—

"**कांगड़ा या कटोचिन राज्य के उत्तर तथा उत्तर-पश्चिम में हरीपुर, पूर्व में चंबा, दक्षिण में कलोर और पश्चिम में पंजाब पड़ता है। इसकी साधारण वार्षिक आय जो कुल ७ लाख रुपये की है, राजा के सिक्खों के साथ मिल जाने के कारण जो जहाँ भी जाते हैं वहाँ विध्वंस फैलाते हैं, काफी घट गई है।**" स्वाभाविक है कि कला के जबर्दस्त पोषक इस राज्य की अधोगति पर इतिहासकार आँसू गिराएँ, चूंकि जैसा कि कविवर वर्ड्सवर्थ ने कहा है, 'मानव हैं हम और यदि उसकी परछाई भी जो किसी समय उच्च स्थान का अधिकारी था, अन्तर्हित होती है तो उस पर शोक मनाना हमारे लिए स्वभाव-संगत है।'

करोच-वंश का चिराग़, पर, पूरी तरह गुल न हुआ। जब कभी भी मौक़ा पाया इस वंश के राज्य-च्युत राजाओं ने अपने खोये हुए राज्य को लड़ाईयाँ लड़कर वापस लेने की चेष्टा की और कुछ हद तक वे इस कार्य में सफल भी हुए।

करोच राजाओं की राजधानी आदिकाल में जलन्धर थी तथा इस राज्य को त्रिगर्त राज्य के नाम से भी पुकारते थे। दरअसल जलन्धर तथा त्रिगर्त पर्यायवाची शब्द थे, जैसा कि हेमचन्द्र ने लिखा है—जलन्धरः त्रिगर्तः स्य, जलन्धर यानी त्रिगर्त। महाभारत तथा कल्हण के राजतरंगिनी में भी इसका उल्लेख त्रिगर्त नाम से ही है।

इसकी परिधि, ११वीं सदी के प्रारम्भ तक—जब मुसलमानों का पहले-पहल इसके ऊपर आक्रमण शुरू हुआ—कूलू को छोड़कर सुतलज तथा व्यास के बीच का सारा इलाका एवं जलन्धर का दोआबा थी।

जलन्धर इसकी मुख्य राजधानी थी, दूसरी नगरकोट या कांगड़ा।

पंजाब के उस पहाड़ी इलाके में जिसके भीतर से सुतलज, व्यास आदि नदियाँ प्रवाहित होती हैं, अति प्राचीन काल से अनेक छोटे-मोटे राज्य स्थापित थे। ये स्वाधीन थे तथा इनके अपने-अपने कानून और कायदे थे। व्यास नदी के तट पर थोड़ी-थोड़ी दूर पर किले बने हुए थे जो राइन (Rhine) तटवर्ती मध्यकालीन किलों की याद दिलाते थे, ये अब भी हैं पर ढहती हुई अवस्था में। ये किले सदियों तक पारस्परिक झगड़े तथा प्रेम दोनों ही के रंगमंच बने हुए थे; यहीं नायक-नायिकाओं का वह रोमांटिक जीवन भी व्यतीत होता रहा जिसकी झलक हमें कांगड़ा-शैली के उन प्राचीन चित्रों में मिलती है जो चित्रकला की एक अपूर्व निधि हैं। यहीं प्रवासी राजाओं की रानियाँ समर-क्षेत्र से या आखेट से प्रियतम के लौटने की प्रतीक्षा करतीं, शतरंज और चौसर खेलकर समय काटतीं तथा काग से प्रवासी प्रियजन की कुशलवार्ता पूछा करती थीं। वीणा, मृदंग तथा तबलों की ठनक से इन रनिवासों की छत और दीवारें सुबह-शाम गुंजारित हुआ करती थीं। नगरकोट इनमें सबसे प्राचीन और बड़ा था तथा किसी जमाने में दुर्जेय भी माना जाता था। स्वाभाविक था कि जलन्धर से उठकर करोच-राज्यवंश इसे ही अपना मुख्य आवास बनाता। आरम्भ में इसकी परिधि काफी बड़ी थी पर आगे चलकर जब पूर्व में सुकेत तथा बंगहल, पश्चिम में पठानकोट या नूरपुर आदि राज्यों का जन्म हुआ तो प्रकृतितः इसकी सीमा घट गयी। उनके ऊपर इसका एक हल्का-सा आधिपत्य मात्र रह गया। कांगड़े के आस-पास के इलाकों पर इसका पूर्णाधिकार बना रहा पर यहाँ भी कई शक्तिशाली राणाओं का, ऐसा प्रतीत होता है, कि अस्तित्व हो आया, चूँकि १३वीं सदी के कागजातों से पता चलता है कि तत्कालीन कीडागाम के एक राणा का विवाह-संबंध त्रिगर्त (कांगड़े) के राज-परिवार में हुआ था, और यह स्थान इसी भूमि के भीतर था, इसमें सन्देह नहीं—प्रमाणित है।

मुसलमानों के आक्रमण के बाद गैरपहाड़ी इलाके इस राज्य के हाथों से निकल गये और तब नगरकोट[1] या कांगड़ा इसकी मुख्य राजधानी

१. इसका एक दूसरा नाम भी था—भीमनगर।

बनी। महमूद गज़नी के हमलों से पंजाब थर्रा रहा था, अतएव त्रिगर्त-राजा के लिए ऐसे स्थान में अपनी राजधानी बनाना, जहाँ पहुँचना आसान न था, स्वाभाविक था, पर इसकी दौलत से फिर भी इस आक्रमणकारी के मुँह में पानी भर आया तथा सन् १००६ ई० में यह कांगड़े की इस दुर्गम भूमि में भी अपने टिड्डी-दल के साथ घुस ही आया। श्री ब्रजेश्वरी देवी के मंदिर को भूमिसात् करके एवं देवी की प्रतिमा को ध्वंस कर उसने यहाँ की सारी दौलत अपने हाथों में कर ली और चलता बना। पर कांगड़े के किले पर से उसने अपने अधिकार का पंजा न हटाया, अपनी फौज की एक मजबूत टोली वहाँ छोड़ता गया। इसके करीब ३० वर्षों के बाद गद्दी से उतारे हुए करोच-राजा ने दिल्ली के तत्कालीन शासक महाराज पर्णभोज की सहायता से, चार महीनों के युद्ध के बाद, इसे पुनः हासिल किया।

'पृथ्वीराज रासो' में एक प्रकरण आया है—'कांगुरा-युद्ध'। इसमें कांगड़े की दुर्ग-विजय की कथा है। आरम्भ इस प्रकार है—

कितक दिवस निस मास, आइ जालंधर रानी।
कहै राज सूं वचन, हूं सु कंगुर-द्रुग जानी॥
तो तुट्ठी कर-पान लेह, में वाचा दक्खिय।
भोट भान घुर जीत्ति, पल्ह पच्छै फिरि अक्खिय॥
हम्मीर भीर अंग्गें करें, दल भज्जै मति सत्ति करि।
बरनी सु लच्छ लच्छी सहज, परनि राज आवह सु छरि॥

अर्थात्, कुछ दिनों के बाद जालन्धर देवी ने स्वप्न में राजा पृथ्वीराज से कहा, कि मैं कांगड़ा-दुर्ग की बेटी हूँ, तुझ पर प्रसन्न होकर वर देती हूँ कि तू हाथ में तलवार लेकर प्रथम भोटी-भान से, फिर वीर पल्हन से विजय प्राप्त कर। इस लड़ाई में तेरा मददगार हम्मीर शत्रु-सेना का नाश करेगा; फिर तू उसकी गुणवती पुत्री से विवाह कर घर लौटेगा।

इसके बाद पृथ्वीराज के कांगड़ा जाने का उल्लेख तथा युद्ध का वर्णन आता है। युद्ध में कांगड़े का राजा भोटी-भान तथा उसका साथी राजा पल्हन पराजित होते हैं। हालुलिराय-हम्मीर इन शब्दों में कांगड़ा-दुर्ग तथा उस पर विजय प्राप्ति की कठिनाइयाँ का वर्णन करता है—

सुनि हाहुलि हम्मीर, हथ्थ जोरे नृप अग्गें।
सकल भुम्मि को भेद, राज जानै ए भग्गें।।
अति सु बिकट वन जूह, चढ़ै संग्राम न होई।
अश्व पाय गज पाइ, चढ़न किहि ठौर न कोई।।
बन विकट जूह प्रब्वत गुहा, बर बेंहर ब्रंकम विखम्।
दारुन्न भयानक अति सरल, बर प्रस्तर नहिं जल सुखम्।।

अकेले बलवान वीर रघुवंशी हम्मीर प्रतिहार ने शत्रु के कुटुम्ब और घर को कुचल कर दुर्ग पर अधिकार कर लिया——

सबै सूर सामन्त, पल्लह बंध्यौ गढ़ लिन्नौ।
थप्पयौ राम नरिंदं, हथ्थ फरमान सु दिन्नौ।।

विजयी हम्मीर को कांगड़े पर स्थापित करके पृथ्वीराज उसकी पुत्री का वरण करते हैं और दिल्ली लौट आते हैं। वधू कैसी है, यह चन्दबरदाई के शब्दों में सुनिए——

दिक्खिन वृत्त सुनाभि, तुंग नासा गज गमनी,
सासनि गंध-सरोज, कुटिल केसं रति रमनी,
बर जंघन मृदु पथु सुरंग, कुरंग लज्जै छवि हीनं——

'——रतितुल्य रमणी की नाभि दक्षिणा वृत्त, उत्तुंग–उठी हुई नासिका, गज-सी चाल, साँस की गन्ध कमल-जैसी, गुच्छेदार केशपाश, स्थूल मृदुल जंघाएँ। अंग का रंग सुन्दर, वन मृग जिसके सौन्दर्य से लज्जित एवं छवि-हीन होता है'[1]।

इतिहास में जहाँ कांगड़ा दुर्ग के बाकी सभी आक्रमणों की चर्चा है, ताज्जुब है कि इसका कहीं उल्लेख नहीं है। साथ ही यह भी प्रश्न उठता है, कि जिस भोट राजा का कवि चंद ने जिक्र किया है वह कौन था।

कांगड़ा के किले में आज भी एक प्रस्तरमूर्ति जैन-देवता आदिनाथ की है, पर इतिहास कांगड़ा में जैन-प्रभाव की चर्चा नहीं करता। इसी तरह संभव है कि कांगड़ा-दुर्ग किसी जमाने में किसी बौद्ध-राजा के अधिकार-

---

१. कांगड़ा शैली के रमणी-चित्र ऐसा लगता है मानो इस वर्णन को अंकित करते हों।

गत हुआ हो पर इतिहास में यह अलिखित ही रह गया हो।

जहाँ तक भोट राजा का संबंध है, दो बातें संभव हो सकती हैं :

(१) बौद्ध के लिए भोट शब्द का व्यवहार हुआ करता था, ख़ासकर तिब्बती बौद्ध के लिए, यही नहीं, लद्दाख वाले भी खुद आपको 'भोट' कहा करते हैं, और तो कहते ही हैं। इतिहास से पता चलता है कि एक समय इन भोटों ने चनाव घाटी के कई स्थानों पर कब्ज़ा कर लिया था। संभव है, कांगड़े में भी उन्होंने पाँव फैलाये हों।

(२) सन् १६२४ में एक जेसूट पादरी एन्टोनियो द अन्डाडा ने पश्चिमी तिब्बत की मरुभूमि में एक राज्य का पता पाया था जिसके राजा और राजपरिवार ने उसके कहने पर ईसाई धर्म को ग्रहण कर लिया। तिब्बती इस प्रान्त को 'गुगे' (Guge) कहते थे। सतलज का ऊपरी सिंचित क्षेत्र जो शिपकी आकर समाप्त हो जाता है, इस नाम से आज भी विख्यात है। पर गुगे के कई राजाओं ने समय-समय पर इस क्षेत्र से भी आगे राज्य-विस्तार किया था। करीब ई० के वाद १००० शती से इस राज्य का जाना हुआ इतिहास शुरू होता है। इसके प्राय: २० वर्ष पूर्व मध्य-तिब्बत के एक वीर योद्धा कुईद दे नीमा गों ने ल्हासा से आकर सारे पश्चिमी तिब्बत पर कब्जा कर लिया था। उसके राज्य में लद्दाख, स्पीती और लाहूल भी पड़ते थे। मरने के पहले उसने राज्य को अपने तीन पुत्रों में बाँट दिया और इस तरह एक की जगह तीन नये राज्यों का निर्माण हुआ। इनमें ही एक गुगे था। ११वीं शती के अंत में इस राज्य पर देनीमागों के द्वितीय पुत्र का पौत्र शासन कर रहा था।

संभव है, गुगे के किसी राजा ने कांगड़ा दुर्ग पर भी अधिकार कर लिया हो जिससे वह महाराज पृथ्वीराज द्वारा पराजित होकर निष्कासित किया गया हो। तिब्बती-वंश-प्रभव होने के कारण चंदबरदाई ने इसे 'भोट राजा' के नाम से पुकारा हो। लद्दाख में पाये गये इतिहास-लेखों से पता चलता है कि तिब्बतियों द्वारा तीन बार कुल्लू पर हमले हुए थे—सर्वप्रथम ११२५ और ११५० ई० के बीच—सम्भव है कांगड़ा पर भी उनके हमले हुए हों जिनकी हमारे लिखित इतिहासों में कोई चर्चा नहीं है। आख़िर कुल्लू के इन हमलों के संबंध में भी तो हमारा इतिहास चुप ही-सा है।

दरअसल कांगड़े के इस दुर्ग को न जाने इसकी किस्मत में क्या लिखा था, कि बारम्बार बाहरी हमले का सामना करना पड़ा था। सन् १३३७ ई० में मुहम्मद तुग़लक ने इस पर अधिकार कर लिया, किन्तु उसके मरने पर यह फिर से कटोचों के हाथ वापिस आ गया पर कुछ ही दिनों के लिए, चूंकि मुहम्मद के उत्तराधिकारी फिरोज़ तुग़लक ने गद्दी पर पूरी तरह जम जाने के बाद राजा रूपचन्द को हटाकर पुनः इस पर अपना अधिकार जमा लिया। रूपचन्द को बिलकुल राज्य-च्युत न करके उसने उसे अधीनस्थ बना रखा।

भारत से लौटते हुए तैमूर ने भी कांगड़े को जीता पर उसके जाते ही यह पुनः कटोच-वंश के हाथों में लौट आया। तत्पश्चात् शेरशाह सूरी (१५४०), जहांगीर, महाराजा रणजीतसिंह, गुर्खों आदि के द्वारा भी इसे आक्रमण का सामना करना पड़ा।

ईरान के विदेशी विजेताओं के द्वारा कई खंडों में विभाजित किये जाने पर वहाँ के एक देशभक्त कवि ने आँसू गिराते हुए लिखा था :

धूल जहाँ की कस्तूरी से अधिक सुगंधित होती,
जिसके स्थल-जल में मिलते ढेर-ढेर मणि-मोती,
उसी देश का आज विदेशी आपस में बँटवारा—
करने जाते, खड़ा देखता मुल्क तमाशा सारा !

प्रकृति की लीला-भूमि कांगड़ा के इस सुन्दर प्रदेश के बार-बार लूटे जाने पर पता नहीं, किसी करुण हृदय, देशभक्त कवि के हृदय ने शोक के आँसू गिराये या नहीं !

इस परिच्छेद में ही, आगे चलकर कांगड़े की इस दुरावस्था की कहानी आपको विस्तार से पढ़ने को मिलेगी।

जैसा कि पूर्वकथित है, प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में त्रिगर्त राज्य का उल्लेख अनेक स्थलों पर आया है। महाभारत में त्रिगर्त—राजा सुशर्मन का जिक्र है जिसने पांडवों के विरुद्ध कौरवों की सहायता की थी तथा विराट राजा के ऊपर हमला किया था, चूंकि पांडवों को उसने शरण दी थी। महाभारत में लिखा है कि त्रिगर्त-राजाओं का मूल-स्थान मुल्तान था। अर्जुन द्वारा पराजित होकर सुशर्मन मुल्तान त्याग कर जलन्धर दोआबा की ओर चला गया

तथा वहीं अपना नया राज्य स्थापित किया और कांगड़े के इस प्रसिद्ध दुर्ग या कोट का निर्माण भी।

त्रिगर्त शब्द को लेकर इतिहासकारों के बीच काफी मतान्तर रहा है। कुछ तो इसका मतलब तीन नदियों—रावी, व्यास, सुतलज—के देश से बताते हैं, कुछ उस प्रदेश से जहाँ व्यास में निमज्जित होने वाली वाण गंगा, कुरली तथा नयागुल नाम की तीन पहाड़ी नदियाँ प्रवाहित होती हैं, अर्थात् कांगड़ा जिला से। दरअसल त्रिगर्त शब्द का अर्थ 'तीन घाटियाँ' ही सर्वोचित है जैसाकि शब्दार्थ से परिलक्षित है—त्रि=तीन, गर्त—गहरा गड्ढा या पोला स्थान। १९वीं सदी के आरम्भ तक कांगड़ा राज्य के लिए त्रिगध नाम भी व्यवहार में आता था। ऐसा लगता है कि प्राचीन काल में राज्य के समतल क्षेत्र वाले हिस्से के लिए जलन्धर तथा पहाड़ी के लिए त्रिगर्त शब्द का व्यवहार करते थे तथा ये दोनों शब्द पर्यायवाची थे।

इस राज्य के लिए जालन्धर शब्द का व्यवहार संस्कृत ग्रंथों में सिवाय हेमकोष, राजतरंगिणी, पद्म-पुराण (उत्तरकाण्ड) के और कहीं न कहीं पाया जाता है, बाकी सभी पुस्तकों में 'त्रिगर्त' का ही उल्लेख है।

कांगड़ा राज्य-वंश की वंशावली में प्रायः ५०० राजाओं के नाम आते हैं पर इनमें ज्यादातर उन व्यक्तियों के नाम हैं जो पौराणिक हैं तथा उनके संबंध में प्रामाणिक बातों का सर्वथा अभाव है। पर, जैसाकि सर लेपेल ग्रिफिन ने लिखा है, कटोच-वंश एक ऐसा राजकुल है जिसकी वंशावली संसार के किसी भी दूसरे राजवंश से अधिक प्राचीन और अप्रतिहत है।

त्रिगर्त राज्य का प्रारम्भिक इतिहास अधिकांशतः अटकल बाजियों पर ही अवलम्बित है। Kangra Settlement Report (1889) की ये बातें बहुत हद तक सच हैं :

Who was the original founder, whence he came, how many centuries ago, by what means his dominions were acquired and consolidated, are questions that cannot be solved in the light of history. The infancy of the state and its gradual development are matt-
beyond even the reach of Conjecture; and the earliest

traditions extant refer to the Katoch monarchy as a power which had already attained the vigour of maturity.

'वंश का आदि-संस्थापक कौन था, वह कहाँ से आया, कितनी शताब्दियाँ पहले, किन उपायों से ये राज्य प्राप्त तथा संगठित हुए, ये ऐसे प्रश्न हैं जिनका उत्तर इतिहास द्वारा पाना असंभव है। राज्य का शैशवकाल और उसका क्रमागत विस्तार—ये मनुष्य की अटकलबाजियों के भी परे हैं। प्राचीन किम्वदन्तियों से सिर्फ इतना पता चलता है, कि तब कटोच-राज्य एक ऐसी शक्ति थी जिसे परिपक्वतावस्था का ओज प्राप्त था।

किसी जमाने में सुतलज नदी के बाद के भी पहाड़ी इलाके कटोच राज्य के ही अन्तर्गत थे, पर विविध सामन्तों में बँटे हुए थे जिन्हें उनकी अधीनता स्वीकार थी। पीछे चलकर जब मुसलमानों के बार-बार के आक्रमण से कटोच-राज्य कमजोर पड़ गया तब ये आजादी के नारे लगाकर स्वाधीन बन गये।

यूनान के इतिहासकार टालमी ने व्यास नदी के तट पर रहने वाले राजा की चर्चा सिकन्दर की भारत-यात्रा के सिलसिले में की है। कल्हण की राजतरङ्गिणी तथा ह्यान्-सुंग के यात्रा-विवरण में भी जलन्धर तथा त्रिगर्त के उल्लेख आते हैं। ह्यान-सुंग के कथनानुसार जलन्धर राज्य की लम्बाई १६७ मील (पूर्व से पश्चिम की ओर) तथा चौड़ाई १३३ मील (उत्तर से दक्षिण की ओर) थी। कनिघंम का कहना है कि यदि ह्यान-सुंग का यह कथन यथार्थ है तो निस्सन्देह प्राचीन काल में चंबा, सुकेत, मंडी तथा सताद्रु के राज्य जलन्धर के अधीन थे या उसके हिस्से थे।

नगरकोट (कांगड़ा) का जिक्र सर्वप्रथम महमूद गजनी के आक्रमण के सिलसिले में आता है। महमूद के सचिव 'उतबी' ने इसका उल्लेख भीम-नगर के तथा फरिश्ता ने भीमकोट के नाम से किया है। अलवेरूनी के समय पर इसका नाम नगरकोट ही था। चंबा में प्राप्त दो तांबे के दानपत्रों से यह ज्ञात होता है कि दसवीं शताब्दी के आरम्भ में दुरगारा (जम्मू) तथा सौमातक (बसोली) के राजाओं की सहायता प्राप्त कर 'किरा' जाति के लोगों ने चंबा पर आक्रमण किया था, उस समय चंबा के सहायक त्रिगर्त—कांगड़ा—तथा कुलुत (कूलू) के राजा थे। इससे यह साफ जाहिर है कि

जो आज कांगड़ा जिले के नाम से प्रसिद्ध है वह उन दिनों त्रिगर्त के नाम से मशहूर था।

कांगड़ा नाम की व्युत्पत्ति के संबंध में भी कई मत हैं पर निश्चयात्मक रूप से कुछ कहना कठिन है। संभव है, इसका प्राचीन नाम कानगढ़ रहा हो। किम्वदन्ती है कि जलन्धर नामक असुर के गड़े हुए शरीर के कान पर यह नगर बसा हुआ है, अतएव इसका कानगढ़ कहा जाना असंभव नहीं है; संभव है, यही कालान्तर में कांगड़ा कहा जाने लगा हो।

१८२० में मूरक्राफ्ट नामक एक अंग्रेज यात्री नादौन में महाराज संसारचन्द का अतिथि हुआ था। उसका कहना है कि कांगड़ा राज्य के अर्न्तगत उन दिनों तीन प्रान्त थे—कटोच, चंगा और पालम। कांगड़ा के चारों ओर तथा पश्चिम के इलाकों को कटोच संज्ञा प्राप्त थी। तो क्या कटोच-वंश के नामकरण का कारण यह इलाका ही है जो संभव है पूर्वकाल में इस राज्य का मेरुदण्ड रहा हो?

पुराने कागजातों में इस राज्य की राजधानी के एक और नाम का ज़िक्र आता है, वह है सुशर्मापुरा। डाक्टर व्युलर का कहना है कि यह नगरकोट या कोट-कांगड़ा का ही एक नाम है। बैजनाथ-स्तुति में सुशर्मापुरा के एक ज्योतिषी 'बलहन' तथा एक शिल्पकार का उल्लेख है। इसी प्रकार श्री जोनराज की राजतरङ्गिनी के भी कई स्थूलों पर सुशर्मापुरा के राजा मल्लचन्द्र की चर्चा है जिसने अपने शत्रुओं के द्वारा देश-निष्कासित होकर काश्मीर के राजा जयसिंह की शरण प्राप्त की थी। यह घटना सन् ११२८ तथा ११४० ई० के बीच की है। फिर शहाबुद्दीन के काश्मीर-आक्रमण की चर्चा करते हुए इस ग्रंथ के लेखक ने लिखा है, कि भयभीत होकर सुशर्मापुरा का राजा अपने क़िले से निकल कर देवी की छत्र-छाया में चला गया। अवश्य ही किले से कोट-कांगड़ा का तथा देवी से कांगड़ा के समीप की प्रसिद्ध भवन की देवी से अभिप्राय है।

सबसे पहला यूरोपियन यात्री जिसने कांगड़े का जिक्र किया है वह है विलियम फिन्च जिसने सन् १६११ ई० में भारत की यात्रा की थी। वह लिखता है[१]—"**उसकी सीमा पर तालुकचन्द नाम का एक दूसरा लोकपाल**

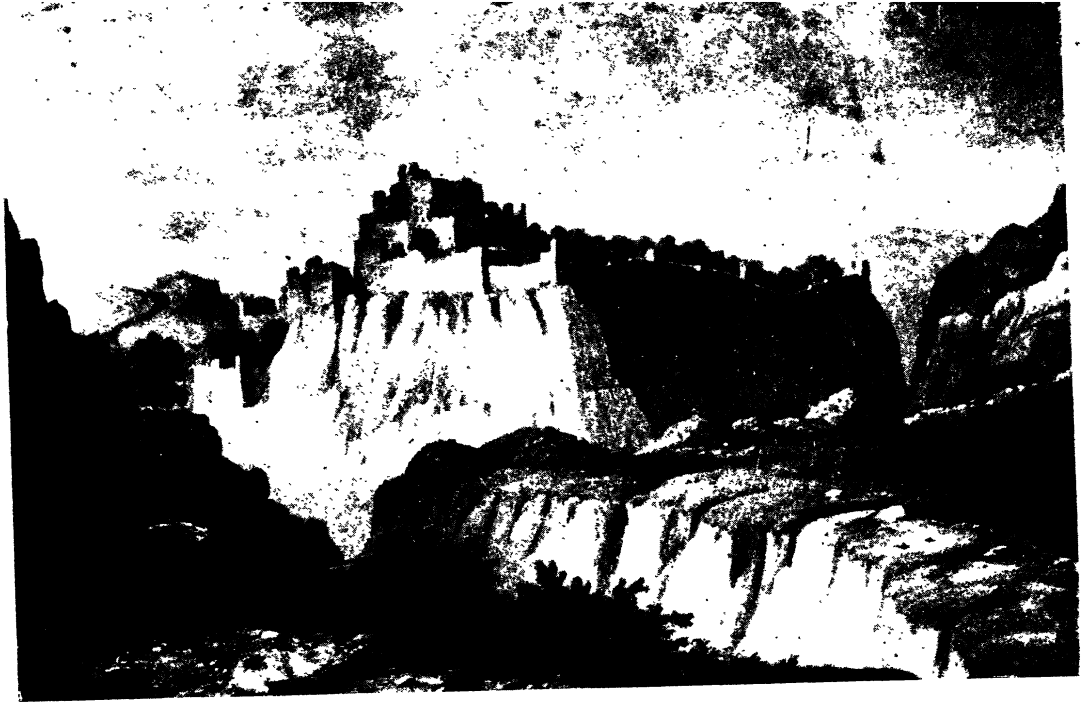
१. फिन्च ने जिन शब्दों में इसका जिक्रकिया है वे बड़े रोचक हैं—इस



नगरकोट पर चढ़ाई के लिए जाती हुई
ब्रिटिश तोपें



राजा घमण्डचन्द और राजा तेगचन्द



नगरकोट के किले का एक मनोहारी दृश्य

है जिसकी राजधानी नगरकोट है ··· यह बड़ा ही शक्तिशाली राजा है तथा पहाड़ों की वजह से सुरक्षित है—"

पर विलियम फिन्च ने जो बातें लिखी हैं वे कानों सुनी, आँखों देखी नहीं। कांगड़ा की स्वयं यात्रा करने वाला प्रथम यात्री टामस् कोरयाट (Thomas Coryat) था जिसकी कही हुई बातों का उल्लेख सर टामस् रो का साथी टेरी (Terry) ने किया है (१६१५) तथा नगरकोट के मन्दिर और ज्वालामुखी के निरन्तर जलने वाले प्राकृतिक प्रदीप की चर्चाएँ की हैं। इन दोनों का जिक्र फ्रांसीसी यात्री थेभेनो (Thevenot, १६६६) के यात्रा-वर्णन में भी मिलता है। इन सबों ने देवी के सामने तीर्थ-यात्रियों के द्वारा जीभ काट कर चढ़ाने तथा दो-चार दिनों में उसके पुनः उग आने की चर्चा की है। अबुल फ़ज़ल ने भी इसका जिक्र करते हुए लिखा है—**"पहाड़ों पर बसा हुआ नगरकोट नामक एक शहर है जहाँ कांगड़ा नामक एक दुर्ग भी है। नगर के समीप महामाई का मन्दिर है जिसे लोग देवकृत बताते हैं, तथा जहाँ दूर-दूर से अपने मनवांछित फलों की प्राप्ति के लिए यात्रा करके आते हैं। बड़े ताज्जुब की बात है कि इसके लिए वे अपनी जिह्वा काट कर चढ़ा डालते हैं जो पुनः दो-तीन दिनों में कभी-कभी चंद घंटों में ही—उग आती है।"**

मुसलमान इतिहासकारों के ग्रंथों में—उतबी और अलबेरुनी से लेकर मुग़ल-दरबार के तवारीख लिखने वालों तक के—नगरकोट या कांगड़े का जिक्र है। यूरोपीय यात्रियों में कोरयात, थेभेनो, भीने, फारेस्टर तथा मूरक्राफ्ट ने इसकी चर्चा की है जिन्होंने १७वीं सदी से लेकर १९वीं के आर-

---

प्रकार हैं—

Bordering to him is another great Rajaw, called Tulluck Chand, whose chief city is Nagarcoat, 80 c. from Lahore, and as much from Syrinan, in which city is a famous Pagod, called Je or Durga, into which worlds of people resort out of all parts of India...They report this Pagan Diety to have been a woman, Jea that she still lives; but will not show herself.

म्भिक वर्षों के भीतर भारत की यात्रा की थी।

यों तो पौराणिक कथाओं में इसका उल्लेख कई स्थानों पर आया है, पर सबसे पहला ऐतिहासिक निर्देश फरिश्ता में पाया जाता है जहाँ ईसा के बाद की पहली सदी में घटित घटनाओं की चर्चा है। प्राचीन भारत के संबंध में लिखते हुए उसने लिखा है कि कन्नौज के एक राजा ने कुमाऊँ पर चढ़ाई की तथा काश्मीर तक पर विजय का झण्डा फहरा डाला। अपनी इस विजय-यात्रा में, जिसमें कुल पाँच महीने लगे, उसने ५०० राजाओं को हराया जिसमें नगरकोट भी एक था। नगरकोट के राजा की कन्या के साथ विवाह बन्धन में बंधकर वह जम्मू की ओर चला गया।

फरिश्ता के बाद राजतरङ्गिनी में ही नगरकोट का उल्लेख मिलता है; लिखा है कि काश्मीर के राजा श्रेष्ठसेन ने त्रिगर्त की भूमि काश्मीर के एक मन्दिर पर चढ़ाई (५वीं सदी में) तथा आगे चलकर, उसने (छठी शताब्दी में) प्रवरसेन द्वितीय की त्रिगर्त-विजय की चर्चा की है।

सन् ६३५ ई० में ह्यान-संग ने भारत की यात्रा की तथा जलन्धर के राजा के पास दो महीने ठहरा, जैसा कि उसके यात्रा-वर्णन से ज्ञात होता है।

नगरकोट के जिस किले की चर्चा पहले की गई है उस पर सबसे पहला हमला जो किसी विदेशी आक्रमणकारी द्वारा हुआ वह महमूद गजनी का आक्रमण था। भारतवर्ष पर उसकी चौथी चढ़ाई सन् १००९ ई० में हुई। इस बार पंजाब से आनन्दपाल की महती सेना को परास्त करके वह पहाड़ों में आ घुसा तथा नगरकोट पर घेरा डाला। 'तारीख-ए यामिनी' के लेखक उतबी में इस चढ़ाई का विशद्-वर्णन मिलता है। उतबी का कहना है कि यह दुर्ग भीमनगर के नाम से मशहूर था। क़िले का वास्तविक निर्माण-कर्ता कौन था इसका पता नहीं है। हाँ, तरह-तरह की अटकलबाजियाँ ज़रूर लगाई गई हैं तथा इसके सम्बन्ध में अनेकों किम्वदन्तियाँ प्रचलित हैं पर ये सभी काल्पनिक बातें हैं, प्रामाणिक नहीं।

क़िले के[1] संबंध में यह कहावत कि जिसके पास कोट, उसका सारा

---

१. Sir A. Cunningham ने विस्तारपूर्वक इस क़िले का वर्णन इन शब्दों में किया है—

पहाड़, बहुत दिनों से प्रचलित है और इसमें सन्देह नहीं कि यह दुर्ग उन किलों में अवश्य है जिसे जीतना आसान नहीं, एक टेढ़ी खीर है। शाहजहांकालीन 'मआसिर-उल-उमरा' का लेखक लिखता है—**"क़िला एक ऊँचे पहाड़ की चोटी पर स्थित है; बहुत ही मज़बूत है तथा इसके तेईस बुर्ज और सात दरवाजे हैं। अन्दर की परिधि एक कोस, १५ जंजीर, लम्बाई ¼ कोस, दो जंजीर, चौड़ाई, १५ से २५ जंजीरों के भीतर तथा ऊँचाई ११४ हाथ है। क़िले के अन्दर दो बड़े-बड़े तालाब भी हैं।"**

शाहजहां के वक्त का ही एक दूसरा लेखक **'फतह-ए-कांगड़ा'** में लिखता है :

"कांगड़े का क़िला अतिशय ऊँचा, एक बड़े ऊँचे पहाड़ पर बना हुआ है। इसके मकान अत्यन्त सुन्दर हैं। यह इतना पुराना है कि कोई भी यह नहीं बता सकता है कि यह कब बना। क़िला इतना मजबूत है कि कोई राजा आज तक इसे फतह न कर सका। यहाँ के राज-वंश से जानकारी रखने वाले लोगों का कहना है कि यह शुरू से आज तक इसी

माझी तथा बाण गंगा नदियों के संगम पर कांगड़े का क़िला एक लम्बी तंग जगह पर बना हुआ है। इसकी दीवार का घेरा दो मील से ज्यादा में होगा, पर इसकी शक्ति इसकी बनावट में नहीं वरन् दोनों नदियों की ओर झुके हुए ऊँचे पहाड़ के खड़े किनारे हैं। जो बाण गंगा की ओर है, वह ३०० फुट ऊँचा है। एक ही तरफ से यहाँ पहुँचा जा सकता है, वह है भूमि-पथ जो शहर की ओर पड़ता है, पर यहाँ भी दोनों नदियों को विभाजित करने वाला पत्थर का जो पहाड़ी टीला है वह बहुत ही तंग है—चंद फुटों से अधिक उसकी चौड़ाई नहीं है—तथा इसकी दूसरी ओर पहाड़ की जड़ में एक गहरी खाई खुदी हुई है। क़िले के इस छोर पर, जहाँ की ऊँची जमीन मलकेरा पहाड़ के पश्चिमी हिस्से की एक शाखा प्रतीत होती है तथा जो कांगड़े के शहर को भवन की पर्यान्तभूमि से अलग करती है, कुछ मकान बने हुए हैं। सबसे ऊँचे पर राजप्रासाद हैं, उसके नीचे एक प्रांगण है जहाँ पत्थर के बने हुए लक्ष्मी-नारायण, अम्बादेवी तथा जैनियों के मन्दिर हैं। जैन मंदिर में आदिनाथ की एक मूर्ति है। मन्दिरों के इस प्रांगण में जाने का एक ही द्वार है जिसे 'दर्शनी-

वंश के अधिकार में रहा। इस देश के मुसलमान शासकों के तवारीख लिखने वालों ने भी इस बात की ताईद की है। सुलतान गियासुद्दीन के समय (१३२० ई०) से लेकर बादशाह अक़बर के तख्तनशीन होने (१५५६ ई०) तक, कम-से-कम ५२ बार इस क़िले पर शक्तिशाली बादशाहों और राजाओं के हमले हुए, घेरे डाले गये, पर कोई इसे ले न सका। दिल्ली के बलवान बादशाहों में से फिरोज ने भी एक बार इस पर घेरा डाला था पर उसके सारे प्रयत्न निष्फल गये। अन्त में राजा से मेल करके ही उसे संतोष करना पड़ा—और वह दिल्ली वापस चला आया। बादशाह अक़बर के शासनकाल में हसनकुली खां तुर्कमान ने जो अक़बर के बड़े सामन्तों में था तथा जिसे 'खान-ए-जहां' की उपाधि मिली हुई थी, पंजाब के सुबेदार मुक़र्रर होने पर, एक बड़ी फौज लेकर इस पर हमला किया, घेरा डाला, पर कुछ कर न सका। अंत में खुदा की मर्ज़ी से यह बादशाह (शाहजहां) की, जिनके शुभ ग्रहों के कारण सारी दिक्कतें हल होती रही हैं, बड़ी फौज के हाथों फतह हुआ।"

दरवाज़ा' कहते हैं। यहाँ से राजमहल की ओर जाने के लिए जो द्वार है वह 'महलों का दरवाज़ा' के नाम से प्रसिद्ध है। मंदिर-द्वार के नीचे क़िले का ऊपरी दरवाजा है जिसे 'अंधेरी दरवाजा' की संज्ञा प्राप्त है। अब यह केवल एक ऊँचा-सा मेहराव के रूप में रह गया है पर पूर्वकाल में एक लम्बा सा सुरंग जैसा रास्ता था तथा अंधियाली के कारण 'अन्धेरी दरवाज़ा' कहलाता था, अपभ्रंश रूप में हन्डेली। दूसरा द्वार जो चढ़ाई के सिरे पर है, 'जहांगीरी दरवाज़ा' के नाम से मशहूर है। हिन्दुओं के समय में यह क़िले का बाहरी द्वार था पर उन दिनों इसका नाम क्या था, यह मालूम नहीं है। इसके नीचे 'अमीरी दरवाज़ा' है, फिर 'अहीनी दरवाज़ा' (लोह-द्वार) जो किसी वक्त में लोहे के पत्तरों से मढ़ा हुआ था। कहते हैं, जहांगीरकालीन प्रथम मुसलमान सूबेदार नवाब अलिफ खां के ये दोनों दरवाज़े बनवाये हुए हैं। चढ़ाई की जड़ में, खड़ी ढाल वाली खाई के किनारे, एक छोटा-सा आंगन है जिनके दो द्वार हैं जो केवल 'फाटक' कहलाते हैं और पहरेदार सिपाहियों के ठहरने के काम में आ रहे हैं।

पर, इसके पहले महमूद गज़नी ने इस क़िले पर हमला करके इसे जीता था, यह पहले लिखा जा चुका है। क़िले की दौलत की खबर उसके कानों तक पहुँच चुकी थी तथा उसके मुँह से पानी टपक रहा था। अतएव सन् १००९ ई० में उसने चौथी बार हिन्दुस्तान पर हमला करने का निश्चय किया तथा बकौल उतबी के, 'सुल्तान ने खुदा से दुआ माँगी कि उसकी मुराद पूरी हो,' और वह भारतवर्ष के लिए चल पड़ा। सिन्ध नदी के तट पर आनन्दपाल के पुत्र ब्राह्मणपाल ने उसका मुकाबला किया, कस कर लड़ाई हुई, पर अन्त में विजय-श्री महमूद के ही हाथों लगी। फिर वह आगे बढ़ा तथा भीमनगर आ पहुँचा। क़िले में अपार धन था जिसके संबंध में उतबी ने लिखा है कि 'हिन्दुस्तान के विभिन्न राजे तथा देवी के धन सम्पन्न भक्त जवाहिरात आदि इकट्ठा कर-करके समय-समय पर देवी के पास चढ़ौना भेजा करते थे ताकि उन्हें इसका पुरस्कार मिले तथा भगवत्सान्निध्य प्राप्त हो। अतः सुल्तान कौवे की तरह इस फल की ओर आगे बढ़ा जो बरसों का इकट्ठा किया हुआ धन था और इतना अधिक हो चुका हुआ था कि उसे न ऊँट के पीठ ढो सकते थे, न वह घड़ों में घुस सकता था, न उसका ब्यौरा कलम लिखने में समर्थ हो सकती है और न गणितज्ञों की कल्पना में ही वह आ सकता है।'

क़िले के सिपाही उन दिनों अपने-अपने गाँवों में कृषि कार्य में लगे हुए थे, केवल देवी के पुजारी क़िले में बच रहे थे। ऐसे ही समय में महमूद अचानक वहाँ आ पहुँचा तथा फौज लेकर क़िले को चारों ओर से घेर लिया। क़िले के बचे-खुचे लोगों ने बड़ी जवांमर्दी के साथ उसका बचाव किया पर जब उन्होंने पहाड़ पर टिड्डियों की तरह फैली हुई महमूद की फौज देखी जिनके तीरों की बौछार चल रही थी, तब उनकी हिम्मत पस्त हो गयी। क़िले के द्वार उन्होंने खोल दिये। सुल्तान अपने विश्वास-पात्र पदाधिकारियों के साथ अन्दर घुसा तथा सारी दौलत पर कब्जा कर लिया। जवाहिरातों को उसने अपनी देखरेख में रक्खा, बाकी चीज़ें—सोना, चांदी वगैरह—अपने अफसरों की। एक साथ इतनी दौलत देखकर, कहते हैं, कुछ काल के लिए वह भौंचका-सा रह गया। उतबी लिखता है—

"जितने ऊँट मिल सके उनकी पीठों पर यह दौलत लादी गयी, जो

बच रही उन्हें अफ़सरों ने उठाया। उनमें सात करोड़ सरकारी मुहर पड़े हुए दीनार तथा सात लाख चार सौ मन सोना-चाँदी थे। इनके अलावा ऐसे सुन्दर कामदार कपड़े कि इन्हें देखकर बूढ़े-से-बूढ़े लोगों का कहना था कि ऐसे कीमती कपड़े उन्होंने कभी जीवन में नहीं देखे। लूटे हुए माल में एक चांदी का मकान था, जैसा कि धनी लोगों के हुआ करते हैं, जिसकी लम्बाई तीस गज थी, चौड़ाई पन्द्रह गज। यह सुभीते से तोड़ा और जोड़ा जा सकता था। इसके चार खम्भे थे—दो ठोस सोने के ढले हुए, दो चांदी के।"

क़िले को अपने एकपदाधिकारी के हवाले करके सुल्तान गज़नी लौटा। घर आकर एक लम्बा कालीन बिछवाया और उस पर लूटी हुई सारी दौलत को बतौर नुमायश के रखवाया—हीरे, मोती, पन्ने आदि जवाहिरात तथा अन्य बहुमूल्य वस्तुओं को जिन्हें वह हिन्दुस्तान से लूट कर लाया था।

फरिश्ता का इनके संबंध में कहना है कि **"भीमकोट से लूटकर लायी हुई चीजों में ७००,००० सोने के दीनार, ७०० मन की सोना-चांदी की तश्तरियाँ, २०० मन शुद्ध सोना के ईंट, २,००० मन चांदी, तथा २० मन जवाहिरात, हीरा, माणिक, मोती, मूंगा आदि थे।"**

कनिंघम (Arch, Survey Report, Vol I) का ख्याल है, कि 'इन सारी चीजों की कीमत १,७५७,००० पौंड के करीब रही होगी तथा यह काबुल और ओहिन्द के हिन्दू बादशाहों का धरोहर होगा। इस मत की पुष्टि अलबेरूनी के इस कथन से कि महमूद के सिपाहियों ने नगरकोट के क़िले में काबुल के हिंद-सीदियन राजाओं के ६० पुश्त की एक वंशावली पायी थी, होती है। इससे यह प्रतीत होता है; कि कई पुश्तों तक नगरकोट का क़िला काबुल के राजाओं के अधिकार में था। यही नहीं, उनका यह सबसे सुरक्षित स्थान था जहाँ वे अपना खज़ाना रखा करते थे। इतनी दौलत सिर्फ कांगड़ा के छोटे-छोटे राजाओं का धरोहर हो, यह विश्वसनीय नहीं प्रतीत होता; अवश्य ही यह काबुल के राजाओं का था। उनके सिक्के पंजाब में महमूद गज़नी के आक्रमण तक चला करते थे, यह मानी हुई बात है।'

अलबेरूनी ने जिस वंशावली का उल्लेख किया है वह रेशम के एक कपड़े पर लिखी हुई थी। तुर्क-शाही बादशाहों ने ६० पुश्त तक काबुल पर

शासन किया था। इस वंश का सबसे मशहूर राजा कनिष्क था जिसके राज्य का अंत सन् ८५० ई० के लगभग हुआ।

दरअसल नगरकोट का यह क़िला अपनी प्राचीनता के कारण समय-समय पर अनेक ऐसे राजाओं के अधिकारगत हुआ जिनका इतिहास में साफ तौर पर जिक्र नहीं आता है, जहाँ-तहाँ उनका उल्लेख मात्र ही पाया जाता है।

कांगड़े के तत्कालीन शासक का नाम राजा जगदीशचन्द था जो इस वंश के आदि-पुरुष भूमचन्द की ४३६वीं पीढ़ी में थे।

महमूद गज़नी क़िले की रखवाली करने के लिए एक सेना नगरकोट छोड़ता गया था। वह सन् १०४३ ई० तक वहाँ रही। उस वर्ष दिल्ली के तोमर-वंशीय राजा ने एलान किया कि उन्होंने एक स्वप्न देखा है जिसमें नगरकोट की देवी ने उन्हें आदेश दिया है कि वह महमूद गज़नी से बदला लेवे, और तभी वह स्वयं उसके तोड़े हुए मंदिर में वापस आयेंगी। इस स्वप्न की बात सुन कर चारों ओर सनसनी फैल गयी। एक बड़ी संख्या में लोग उसकी फौज में 'भर्ती' हो गये। तब वह सेना लेकर हांसी, थानेश्वर आदि पर चढ़ा और हर जगह से महमूद के पौत्र मदूद की फौज को निकाल बाहर किया। फिर पहाड़ों पर आया और नगरकोट के क़िले पर उसने घेरा डाल दिया। चार महीने तक गज़नी की सेना ने मुकाबला किया पर अंत में खाद्यान्न की कमी से भूखों मरने की जब नौबत आ पहुँची, उसने विवश हो कर हथियार रख दिये, क़िले को मुक्ति मिली। मंदिर में पुनः देवी की स्वयमागत प्रतिमा प्रतिष्ठित हुई, देश के कोने-कोने से भक्तों की भीड़ उमड़ पड़ी—और फिर तो कुछ ही दिनों में क़िले की दौलत लौट आयी।

कटोच राजाओं ने कितने दिनों तक जलन्धर पर महमूद के द्वारा लाहौर के जीते जाने के बाद, अधिकार बना रक्खा यह कहना मुश्किल है। राजतरङ्गिणी से ज्ञात होता है कि १०३०–४० में काश्मीर के तत्कालीन शासक राजा अनन्त देव ने जलन्धर के राजा इन्दुचन्द्र की दो राजकुमारियों से विवाह किया पर इसके बाद से काश्मीर के इतिहास में कटोच-राजाओं का फिर कहीं जिक्र नहीं आता है। श्री हचीसन एवं श्री भोगेल नामक इति-

हास-वेत्ताओं का अनुमान है कि नगरकोट की मुक्ति के बाद क़िला प्रायः तीन सौ वर्षों तक कटोच राजाओं के अधिकार में रहा।

पर जहाँ तक जालन्धर का सवाल है, ऐसा लगता है कि सन् १०७० ई० के लगभग कटोच राजाओं के हाथ से गैर पहाड़ी इलाके अलग हो गये। इलियट ने अपनी पुस्तक (Elliot's History Vol IV) में 'दीवान-ए-सलमां' के उन गीतों का जिक्र किया है जिनमें जालन्धर विजय की चर्चा है।

इसके आस-पास ही ऐसा ज्ञात होता है कि कांगड़ा राजवंश भी दो हिस्सों में बँट गया। राजा पद्मचन्द के छोटे भाई पर्वचन्द ने अलग एक राज जसवन की नींव डाली जो आज होशियारपुर ज़िले में पड़ता है।

महमूद के प्रायः दो सौ साल तक मुसलमान सुतलज नदी के आगे न बढ़ सके। इसके दक्षिण, दिल्ली के तोमर राजाओं का आधिपत्य और प्रभाव बने रहे और वे बड़ी वीरता से इनकी प्रगति को रोकते रहे। उत्तर भारत के राजा और सामन्तों का ये नेतृत्व कर रहे थे। इस वंश के अंतिम राजा अनंगपाल थे जिन्होंने उत्तर भारत के सभी राजाओं का लड़ाई में साथ देने के लिए आह्वान किया था। पृथ्वीराज रासो में दी गयी इन राजाओं की तालिका में 'कांगड़ा तथा इसके पहाड़ी सामन्तों' का उल्लेख मिलता है।

सन् ११५१ ई० में अनंगपाल की मृत्यु हुई। इसके बाद बिशालदेव चौहान गद्दी पर बैठा जिसके पौत्र थे महाराज पृथ्वीराज जो महाराज अनंगपाल की कनिष्ठा कन्या की संतान थे तथा जिन्होंने ११७१ में दिल्ली तथा अजमेर दोनों राज्यों के राजासन प्राप्त किये।

अनङ्गपाल की बड़ी लड़की की संतान थे कन्नौज के राजा जयचन्द जिन्होंने दिल्ली का आधिपत्य स्वीकार न किया और अन्त में मुहम्मद गौरी की मदद करके भारतवर्ष के देश-द्रोहियों की सूची में अपना नाम लिखवाया। किसी शायर की यह उक्ति कि 'बदनाम होंगे तो क्या नाम न होगा,' जयचन्द, अमीचन्द, मीरजाफर, पर सोलहों आने चरितार्थ होता है, चूँकि उनके देश-द्रोह की कथाएँ आज इस देश का बच्चा-बच्चा तक जानता है।

अनुमान है कि घग्घर नदी के तट पर जो लड़ाई मुहम्मद गोरी के साथ हुई थी उसमें कटोच-राजा ने भी हिस्सा बँटाया था।

इतिहास के पृष्ठों में कटोच-राजा का विशेष रूप से जिक्र फिर सन् १३३७ ई० में आता है जब कि राजा पृथ्वीचन्द के शासनकाल में मुहम्मद तुग़लक ने कांगड़े के क़िले को जीता था, पर फरिश्ता इसके संबंध में मौन है। कई इतिहासकारों का यह भी मत है कि क़िले की फतह का यह किस्सा कपोल-कल्पना मात्र है, वर्ना फरिश्ता तथा उस समय के अन्य तवारीख लिखने वाले इसकी चर्चा अवश्य करते। फिर, जिस साल क़िले के जीतने की बात कही जाती है वह वही साल था जब मुहम्मद तुग़लक ने चीन पर चढ़ाई की थी। दोनों का एक साथ होना अनहोनी-सी बात प्रतीत होती है। पर दूसरी ओर यह फैली हुई कथा है कि मुहम्मद तुग़लक द्वारा इस क़िले को पुनः एक बार अपहृत होना पड़ा था।

कांगड़े के प्राप्त सिक्कों से जाहिर होता है कि राजा पृथ्वीचन्द के बाद पूरनचन्द (१३४५) तथा रूपचन्द (१३६०) नाम के राजा हुए। फिरोज़ तुग़लक ने जब कोट-कांगड़े को लिया था तो रूपचन्द गद्दीनशीन थे। रूपचन्द और कांगड़े के अंतिम राजा अनिरुद्धचन्द के बीच (इन्हें लेकर) २७ राजाओं ने राज किया। रूपचन्द के जमाने में ही माणिकचन्द नाम के एक कवि ने 'धर्मचन्द नाटक' लिखा था जिसमें फिरोज के क़िला लेने की चर्चा है।

मुसलमानों के शासन-से पीड़ित हिन्दू राजे उन दिनों छापामार युद्ध में लगे हुए थे। फौज लेकर यकायक किसी इलाके पर टूट पड़ना, लूट-खसोट कर निकल भागना, रोजमर्रा की घटना हो रही थी। पहाड़ के राजे इसमें खासतौर पर लगे हुए थे जो पहाड़ों से उतर कर समतल क्षेत्र 'पर आते और पुनः छापा मार पहाड़ों में लौट जाते थे। कहते हैं—और फरिश्ता ने इसकी ताईद की है—कि राजा रूपचन्द ने भी इस तरीके को अपनाया था तथा एक बार वह दिल्ली के फाटकों तक लूटपाट मचाता हुआ पहुँच गया। लौटते वक्त रास्ते में काश्मीर के तत्कालीन शासक शहाबुद्दीन जो स्वयं भी लूटमार के ही काम में लगा हुआ था, के साथ भेंट हो गयी; शहाबुद्दीन की फौज बड़ी थी, अतएव रूपचन्द ने अपने हथियार उसके सामने रख डाले। यह घटना इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि इससे उस समय की राजनैतिक स्थिति की एक झाँकी मिलती है।

शायद रूपचन्द के दिल्ली के फाटकों पर छापा मारने से रुष्ट होकर ही फिरोज़ तुग़लक एक बड़ी फौज लेकर १३६५ के आस-पास नगरकोट पर चढ़ आया जिसका ज़िक्र फरिश्ता तथा **'तारीख-ए-फिरोजशाही'** दोनों में मिलता है। नगरकोट के राजा ने क़िले के दरवाजे बन्द कर लिए और एक सुरक्षित स्थान से वह लड़ता रहा.; करीब छः महीनों तक यह लड़ाई चलती रही। कहते हैं, कि दोनों ओर से इस युद्ध में पत्थर के इतने टुकड़े फेंके जाते थे कि वे आकाश में ही आपस में मिल कर चूर-चूर हो जाते–धूल बन जाते थे। फिर भी सफलता फिरोज़ तुग़लक को ही मिली और अंत में नगरकोट के राजे को उसकी अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। फिरोज़ का बरताव किन्तु उसके साथ, फरिश्तों के कथनानुसार, बहुत अच्छा रहा। भेंट में बहुत-सी धन-दौलत देकर उसने राजा को क़िला लौटा दिया और स्वयं दिल्ली को लौट चला। चलते समय राजा ने सुल्तान को कई बहुमूल्य चीजें और घोड़े भेंट में दिये।

पर भूतपूर्व बादशाह की इज़्जत में क़िले का नाम बदल कर महम्मदाबाद कर दिया गया। नगरकोट के लोगों ने फिरोज़ को बताया कि नगरकोट में जिस देवी की प्रतिमा है वह सिकन्दर बादशाह की पत्नी की है जिसे वह जाते समय उन्हें देता गया था। मंदिर के ग्रंथागार में १,३०० पुस्तकें थीं जिनमें से एक का जो दर्शन शास्त्र और ज्योतिष से संबंध रखता था, फारसी में अनुवाद करने का हुक्म बादशाह ने ऐजुद्दीन खलीदखानी नामक एक व्यक्ति को दिया।

'मआसिर-उल-उमरा' में किन्तु जो इस लड़ाई के संबंध की बातें लिखी हैं उनका फरिश्ता के कथन से मेल नहीं खाता। क़िले के घेरे के संबंध में उसमें लिखा है—**"इस किले की शोहरत इसकी ताक़त और दुर्जयत्व के कारण स्वर्ग तक पहुँच चुकी है। लाहौर से उत्तर, पहाड़ों के बीच, यह बना हुआ है। पंजाब के जमींदारों के भीतर यह धारणा है कि सिवा खुदा के किसी और को यह पता नहीं है कि इसकी नींव कब पड़ी। इतने लम्बे अर्से के भीतर वह क़िला कभी किसी अन्य वंश के लोगों के हाथ न गया, किसी और का इसके ऊपर आधिपत्य स्थापित न हुआ। इस्लामी दुनिया का एक बादशाह सुलतान फिरोजशाह ने अपने महान साधनों की सहायता**

से इसे फतह करने की कोशिश की, बहुत दिनों तक घेरा डाले रक्खा, पर अंत में यह अनुभव करके कि इसे जीतना दुष्कर है, उसने राजा से केवल भेंट करके ही संतोष प्राप्त किया, तथा अपने मंसूबे से वह बाज आया।

कहते हैं, इसके बाद राजा ने सुलतान को क़िले के भीतर आमंत्रित किया सुलतान ने कहा, मुझे क़िले के अन्दर बुलाना एक प्रकार की धृष्टता है, साथ ही खतरनाक भी है, चूंकि यदि मेरे साथ के लोग राजा पर आक्रमण करदें, तो इसका नतीजा बुरा होगा। इसे सुनकर राजा ने एक इशारा दिया। फिर तो छिपे हुए स्थानों से तुरन्त झुंड-के-झुंड सिपाही बाहर निकल आये। सुलतान घबड़ा उठा। राजा ने फिर बड़े अदब के साथ फर्माया, कि मेरा इरादा सिवा सुरक्षा के और कुछ न था। इसके बाद भी दिल्ली के कई सुलतानों ने काँगड़े के इस क़िले के खिलाफ फौजें भेजीं, पर वे इसे फतह न कर पाये।"

माणिकचन्द नामक एक हिन्दू चारण्ण की ऊपर चर्चा की जा चुकी है। उसने इस लड़ाई के संबंध में बहुत-सी बातें पद्य-बद्ध की थीं जिनमें राजा का सुलतान का आधिपत्य स्वीकार करना स्वीकृत है तथा सुलतान और राजा (रूपचन्द) की भेंट का भी उल्लेख है। राजा की पीठ पर सुलतान के हाथ रखने की भी चर्चा है। उसकी रची हुई ये दो पंक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं—

रूपचन्द बढ़ कर चढ्यो दीलीश्वर सुरतान,
बहुत हेट कर पग पर्‌यो, पीठ हाथ ले सान।

१३७५ में रूपचन्द ने शरीर छोड़ा और उनके लड़के संगरचन्द ने गद्दी पायी। संगरचन्द के शासन से सम्बंधित कोई सरकारी कागज़ प्राप्य नहीं है, पर मुसलमान इतिहासकारों ने एक घटना का ज़िक्र किया है जो उसके अंतिम दिनों में घटी थी। वह इस प्रकार है :

फिरोज़ तुग़लक न अपने ज्येष्ठ पुत्र नसीरुद्दीन को अपना वारिस घोषित किया पर वह कुछ ऐसा निकम्मा निकला कि साल भर में ही उसके दो चचेरे भाइयों ने उसे गद्दी से उतार डाला तथा उसे पकड़ने का यत्न किया। वह जान बचाकर भागा, फौज ने पीछा किया पर वह उसे पकड़ न पायी। पहले सिरमूर में, फिर नगरकोट में, उसने शरण ली। नगरकोट

के पास तक उसके भाइयों की सेना पहुँच गयी पर यह सोचकर कि क़िले को जीतना असंभव है, दिल्ली लौट गयी। १३८९ तक नसीरुद्दीन नगरकोट में ही रहा, १३९० में उसे दिल्ली से बुलावा आया और अंत में मुहम्मद तुग़लक के नाम से वह गद्दी पर बैठा। उसी वर्ष संगरचन्द भी परलोकगत हो गया और गद्दी पर उसका पुत्र मेघचन्द बैठा।

तैमूरलंग ने अपने स्मरण-ग्रंथ **'मालफूजत-ए-तिमूरी'** में नगरकोट की चर्चा की है, इसे लगता है कि तैमूर का भारत आक्रमण १३९८-९९ मेघचन्द के समय में हुआ। तैमूर ने लिखा है—**सिवालिक की घाटी में मैं जब पहुँचा तो मुझ से नगरकोट के संबंध में खबर दी गयी जो हिन्दुस्तान का एक बड़ा और मशहूर शहर है, तथा इन्हीं पहाड़ों में है। दूरी तीस कोस की ही थी पर रास्ता जंगलों तथा ऊँचे पहाड़ों से होकर जाता था। इन पहाड़ों में बसनेवाले हर-एक राय और राजा के पास काफी सैनिक थे। जभी मुझे इन बातों का पता लगा, मेरा हृदय इन विधर्मी हिन्दूओं से लड़ने को व्यग्र हो उठा, और इस इलाके पर विजय-प्राप्त करने को। अतः घोड़े को ऐड़ लगाकर मैं उस ओर चल पड़ा।"**

तैमूर ने प्रस्थान भले ही किया हो पर शायद नगरकोट तक वह पहुँच न पाया चूँकि उसकी पुस्तक में फिर कहीं इस शहर का जिक्र नहीं आता है। संभव है इसकी दुर्जयत्व से वह घबरा गया हो।

तैमूर के भारत-आक्रमण के चन्द बरसों के भीतर मेघचन्द की भी मृत्यु हो गयी और गद्दी पर हरीचन्द बैठा। इसके शिकार में एक कुँए के अन्दर गिर जाने की चर्चा पहले की जा चुकी है, गुलेर बसाने की भी। स्पष्टतः कांगड़ा हरीचन्द के कनिष्ठ भ्राता करमचन्द के ही हाथों में रहा। उसके शासन-काल की चर्चा किसी मुसलमान तवारीख में नहीं मिलती। दरअसल हरीचन्द के बाद एक लम्बे अर्से तक काँगड़े के सम्बन्ध में इतिहास चुप है। सन् १३८८ ई० में फिरोज़शाह तुग़लक की मृत्यु हुई और उसके बाद प्रायः सौ वर्षों तक दिल्ली में अशान्ति बनी रही, गद्दी के लिए लोग आपस में लड़ते रहे, एक उथल-पुथल-सा मचा रहा। स्वाभाविक था कि ऐसी परिस्थित में कांगड़ा-जैसे पहाड़ी प्रदेश की ओर किसी सुलतान का ध्यान न जाता; इनकी स्वयं जानों पर पड़ी हुई थी, कांगड़ा जीतने की ये क्या

सोचते ? यही वजह है कि शेरशाह सूर के गद्दी, पर बैठने (१५४०) तक, इतिहास के किसी पुस्तक में कांगड़े का उल्लेख नहीं आता है। ऐसा लगता है कि १०४३ से लेकर १६२० तक जब जहांगीर ने नगरकोट के किले पर अधिकार जमाया, यह कटोचों ही के हाथों में निर्विघ्न पड़ा रहा।

करमचन्द के बाद संसारचन्द प्रथम, सुमेरचन्द, प्रयागचन्द, रामचन्द गद्दी पर बैठे पर इनके वक्त में कोई ऐसी घटना नहीं घटी जो इतिहास में अंकित होती! धरमचन्द १५२८ में गद्दी पर बैठा; शेरशाह सूर ने १५४० में दिल्ली की गद्दी हासिल की। इसके बाद ही उसने अपने सेनाध्यक्ष खवास खां को उसने नगरकोट जीतने को भेजा। 'वक़ीअत-ए-मुस्तकी' से जाहिर होता है कि खवास खां ने क़िले पर कब्जा ही नहीं किया बल्कि मन्दिरों को भी तोड़ा तथा मन्दिर की प्रतिमाओं, शिवलिंग आदि, को पूरी तरह अपमानित भी किया। एक जगह लिखा है—'जब वह पत्थर (शिवलिंग) बादशाह के पास पेश हुआ तो उन्होंने इसे बूचड़ों को दे दिया ताकि वे इसका गोश्त के तोलने में उपयोग करें।' क़िले से एक मील दूर भवन-मंदिर का शायद शिवलिंग था यह। देवी के मंदिर की सुन्दर प्रतिमा को वह साथ लेता गया, साथ-साथ तांबे के उस क्षेत्र को भी जिस पर उसका निर्माण-काल अंकित था। निर्माण-तिथि के अनुसार यह छत्र दो हज़ार वर्ष पुराना था।

खवास खां की इस विजय के बाद क़िले की क्या स्थिति रही इसके संबंध में स्पष्टतया किसी ने कुछ नहीं लिखा है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसके बाद भी यह कटोचों के ही अधिकार में रहा जब तक कि १६२० में जहांगीर ने इस पर अपने पाँव न डाले।

शेरशाह का भतीजा सिकन्दरशाह को मुगलों के हाथ सिरहिन्द में हार खानी पड़ी। इसके बाद ही बाबर की मृत्यु हो गयी तथा कुछ दिनों बाद हुमायूँ की मृत्यु पर अकबर दिल्ली के तख्त पर बैठा। फरिश्ता कहता है कि इसके बाद वह—उस समय उसकी उम्र चौदह-पंद्रह साल की थी—पहाड़ों की ओर बढ़ा; नूरपुर में कांगड़ा के राजा धरमचन्द ने आकर उसे सलामियाँ दीं और वह प्रेम से उससे मिला।

धरमचन्द के बाद उसका पुत्र माणिकचन्द ने राजगद्दी पायी पर कुछ

ही दिनों में, १५७० में, उसकी भी मौत हो गयी तथा जयचन्द गद्दी पर बैठा। किसी कारणवश अक़बर को उसकी नेकनीयती पर सन्देह हो गया और गुलेर के राजा रामचन्द द्वारा अक़बर ने उसे गिरफ्तार करा कर जेल में डाल दिया। उसके पुत्र विधिचन्द ने यह समझ कर कि पिता मौत के घाट उतार दिये गये, राजासन ग्रहण किया। हालांकि अभी उसकी उमर कम थी, नाबालगी थी, उसने पिता का बदला लेने का सोचा तथा अक़बर के ख़िलाफ बगावत का झण्डा उठाया। अक़बर ने पंजाब के सूबेदार खाँ जहाँ हुसैन कुली खाँ के नेतृत्व में एक फौज भेजी और आदेश दिया कि नगरकोट विधिचन्द से छीनकर राजा बीरबल को बतौर जागीर के दे दिया जाय।

पहाड़ का सारा इलाका बीरबल को जागीर में मिला, जो स्थानीय राजाओं को पसन्द न हुआ। कुली खाँ को अतएव पठानकोट, नूरपुर, कोटला आदि के राजाओं को भी पराजित करना पड़ा और अन्त में कांगड़ा पहुँच कर उसने क़िले पर घेरा डाला। पर इसके बाद ही ख़बर पहुँची कि अक़बर के दो रिश्तेदार, इब्राहिम, हुसैन मिर्ज़ा तथा मसूदमिर्ज़ा—जो तैमूरवंश ही के थे और दिल्ली के तख़्त के ख़्वाहिशमन्द थे—ने पंजाब पर धावा बोल दिया है। कुली खाँ को अतः विवश होकर सुलह की बातें चलानी पड़ीं तथा पाँच मन सोना और कुछ अन्य बहुमूल्य वस्तुओं को लेकर वह वहाँ से चलता बना। मिर्ज़ा के साथ लड़ने को मुग़ल सेना पंजाब की ओर बढ़ी। क़िले को किन्तु अक़बर की फौज जीत न सकी।

'तबाकत-ए-अक़बरी' एवं 'मसीर-उल-उमरा' दोनों ही इस बात की ताईद करते हैं तथा विस्तारपूर्वक नगरकोट के घेरे का हाल एक साँ देते हैं, पर 'अकबरनामा' में इसके सिवाय भी कुछ बातें हैं। अक़बरनामा का लेखक लिखता है—"**राजा गोविन्दचन्द[1] ने शर्तों को सुनकर अपना भाग्य सराहा,**

---

१. राजा जयचन्द को जब दिल्ली से अक़बर का बुलावा आया तो उन्होंने शाही हुक्म की तामीली करने में ही अपना भला माना पर जाते समय अपने नाबालिग पुत्र विधिचन्द को जसवन के राजा गोविन्दचन्द के जो उन्हीं के वंश के थे, सुपुर्द कर दिया—उनकी देखरेख में वह उसे छोड़ते गये। जयचन्द जेल में डाल दिये गए, इधर विधिचन्द और गोविन्दचन्द उन्हें मरा

बहुत खुश हुआ वह। सुलह की शर्तें चार थीं: (१) राजा अपनी एक लड़की अकबर को ब्याह देंगे, (२) संतोषजनक कर प्रस्तुत करेंगे, (३) अपने किसी विशिष्ट सम्बन्धी को भेजेंगे ताकि यदि शर्तें 'बादशाह को पसन्द न हुई तो वह बादशाह के पास बतौर शरीर-बन्धक के तब तक रहेगा जब तक कि क़िला खाली न कर दिया जाय और (४) चूंकि यह प्रान्त राजा बीरबल को जागीर में मिल चुका हुआ है, राजा गोविन्दचन्द उन्हें काफी धन प्रदान करेंगे जिससे वह इसे छोड़ देने के लिए राज़ी किये जा सकें।

"राजा ने इन सभी शर्तों को अपने पक्ष के लिए हितकर माना।"

इसके बाद से १५८२ तक कांगड़े का मुसलमानी तवारीख में कहीं ज़िक्र नहीं आता है। 'अक़बरनामा' के कथनानुसार इस वर्ष अक़बर ने सिन्ध में दौरा करते हुए सुना कि कांगड़े के देवी-मन्दिर में भक्तजन अपनी जिह्वा काट कर चढ़ाते हैं और इसे देखने को वह नगरकोट की ओर चल पड़ा, किन्तु रास्ते से ही लौट आया, चूंकि रात में जब वह बिस्तर पर लेटा हुआ था, एक प्रेतात्मा ने उपस्थित होकर उसे वहाँ जाने से मना किया। इससे यह साफ जाहिर है कि अक़बर अपने जीवन में कांगड़ा न जा पाया।

कांगड़ा के सम्बन्ध की चार विशेषताएँ अक़बर को बतायी गयी थीं—१. नये नाकों का बनाना, २. नेत्र-चिकित्सा, ३. बासमती सुगंधित चावल और ४. मज़बूत क़िला।

नाक के 'आपरेशन' (चीर-फाड़) के लिए कांगड़ा काफी दिनों से मशहूर था। अन्वेषण से पता चलता है कि वहाँ एक प्रकार की प्लास्टिक की नाक बनाने की प्रथा थी और इसके जानने वाले कारीगर पुश्त-दरपुश्त से इस काम को करते आये थे, पर—जैसा कि पुराने जमाने में हर हुनर के साथ हुआ करता था—इसके तरीके को वह किसी दूसरे को बताते नहीं थे। कनिंघम का कहना है कि जब ये पहाड़ी इलाके पंजाब में—सिख-युद्ध के बाद मिला लिये गए तो उन्हें कांगड़ा जाने का मौक़ा मिला और वहाँ उन्होंने

समझ कर क़िले को बादशाही पंजों से बचाने की तैयारी में लग गये। सुलह की सारी बातचीत गोविन्दचन्द ने विधिचन्द की ओर से बतौर अभिभावक के की।

इस क्रिया को तब भी होते देखा। काबुल और नेपाल तक से लोग वहाँ नाक बनवाने आये हुए थे।

भीने (Vigne) नामक एक यूरोपियन यात्री ने कांगड़े की यात्रा १६ वीं सदी के आरम्भ में की थी। उसने भी यात्रा-विवरण (१८३५–१८३६) में इसका उल्लेख किया है। लिखा है—**"मैंने कोट-कांगड़ा से लौटते हुए, राह में, कई ऐसे लोगों को देखा जिनकी नाक का 'आपरेशन' हुआ था, और वे घर को लौट रहे थे। उन्हें नयी नाक-प्राप्ति पर बड़ा गर्व था हलांकि ये नाकें पुरानी के बहुत ही निम्न-श्रेणी का प्रतिनिधि थीं।"**

राजा जयचन्द के बाद विधिचन्द १५८५ में तख्त पर बैठा। मुग़लों के आधिपत्य से पहाड़ी राजाओं के भीतर एक असन्तोष की लहर बहुत दिनों से चलती आ रही थी, विधिचन्द ने इसका लाभ उठाया तथा उनका संघठन करके, और उनका नेतृत्व कर मुग़ल-शासन के खिलाफ बगावत कर दी पर मुग़ल-सैनिक बल के सामने उसका कुछ चल न सका और अन्त में उसे हथियार डाल कर पुनः मुगलों का आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा।

राजा विधिचन्द के उत्तराधिकारी त्रिलोकचन्द के राज्य-काल (१६०५) में जहांगीर द्वारा कांगड़े को आक्रमण का सामना करना पड़ा था। पर इसके सम्बन्ध में काफी मतान्तर भी है। कुछ तो इसे त्रिलोकचन्द के समय में होना बताते हैं, कुछ उसके पुत्र हरीचन्द के कनिंघम का कहना है कि चूँकि राजा त्रिलोकचन्द ने अपने नाम से सिक्के निकालने शुरू कर दिए थे, जहांगीर ने क्रोधवश, उसे दण्डित करने को, फौज भेजी थी, पर दूसरी ओर कई लोगों का कहना है कि बादशाह अक़बर के समय जब राजा त्रिलोकचन्द दरबार में बुलाये गए थे तो उनके साथ उनका पुत्र हरीचन्द भी जो उस समय कम ही उम्र का था, गया था। उसके हाथों में एक सुन्दर तोता था जिसे शाहजादे (जहाँगीर) ने उससे माँगा पर उसने देने से इन्कार कर दिया। जहाँगीर के हृदय में तभी से बदला लेने की भावना जागृत थी; मौक़ा पाते ही उसने अपनी इस आकांक्षा को नगरकोट के खिलाफ फौज भेजकर और उसे जीतकर पूरा किया। 'तारीख-ए-पंजाब' का लेखक गुलाम मुहिउद्दीन इसका ज़िक्र करते हुए लिखता है—

"तोते के माँगने पर राजपूत राजकुमार ने कहा—

हम लोगों ने कर में बादशाह के पास बाज़ और जुर्रा जैसे पक्षी भेजे हैं : इस मामूली चिड़िया को मैंने अपने लिए रखा है। यहाँ से छुट्टी पाकर जब मैं घर जाऊँगा तो बाज़ और जुर्रा के साथ, भेंट में, इस पक्षी को भी भेजूंगा। अक़बर हरीचन्द को मानते थे, इसलिए जहाँगीर ने बल-प्रयोग करके उस तोते को नहीं लिया, पर भीतर-ही-भीतर उससे बदला लेने का सोचता रहा। कांगड़े पहुँच कर हरीचन्द ने बाज और जुर्रा जहांगीर के पास भेजे जिन्हें लेने से उसने अस्वीकार कर दिया।"

अकबर के मरने पर जब जहांगीर तख्त पर बैठा तो पहाड़ी इलाकों के राजा भी सलामी देने दिल्ली आये। हरीचन्द को पता था कि बादशाह उससे नाराज़ हैं, अतएव चलते समय उसने अपनी माँ से जो चंबा के राजा की पुत्री थी, कहा कि उसकी अनुपस्थिति में वे क़िले की सुरक्षा का पूरा प्रबन्ध रखेंगी। उन्होंने ऐसा ही किया तथा चंबा से अपने भाई को बुला कर सहायता के लिए क़िले में रख छोड़ा।

जहांगीर ने ऊपर से तो हरीचन्द की खूब आवभगत की पर परोक्ष में हुक्म दिया कि वह पकड़ कर जेल में डाल दिये जाएँ। पर इसकी ख़बर हरीचन्द को लग गयी और वह तत्काल दिल्ली से भाग निकले। जहांगीर ने ख़बर पाते ही सेना भेजी। कहते हैं, रास्ते में हरीचन्द की मुठभेड़ इस सेना के साथ हो गयी तथा लड़ते हुए वह हत हुए।

ये बातें 'तवारीख-ए-पंजाब' के लेखक की हैं। कई इतिहासकारों ने इसमें नाम की भूल बतायी है। उनके मन में उपर्युक्त सारी घटनाएँ राजा त्रिलोकचन्द से संबंध रखती हैं, हरीचन्द से नहीं चूँकि १६२० में जब मुग़ल सेना ने क़िले पर कब्जा किया तो हरीचन्द केवल बारह साल का था, अतएव जब जहांगीर गद्दी पर बैठा (१६०५ में) तब वह इस संसार में आया भी न था। पर साथ ही १६१५ में क़िले पर हमला होने तथा १६२० में उसके फतह होने की जहाँ चर्चा है वहाँ राजा त्रिलोकचन्द का नाम गुम है। कइयों का मत है कि शायद १६१२ में त्रिलोकचन्द मर गये और उनका पुत्र हरीचन्द छोटी अवस्था में ही उनका उत्तराधिकारी बना।

तोते से संबंध रखने वाला किस्सा चाहे राजा त्रिलोकचन्द से, जो जहांगीर के समवयस्क थे, सरोकार रखता हो या हरीचन्द से, पर इतना

अवश्य है कि जहांगीर इस घटना को भूला न था और तख्तनशीन होने के बाद क़िले पर विजय प्राप्त करके वह बदला लेने के लिए व्याकुल था। यही वजह थी कि ज्यों-ज्यों क़िले के लेने में देर हो रही थी, उसकी बेचैनी बढ़ती जा रही थी।

बरसों के घेरे के बाद १६२० में कांगड़ा का क़िला मुगलों के हाथ लगा। इसके लेने के उपयोग में जहांगीर बेचैनी के साथ अपने सिपहसालार बदलता गया, अंत में राजा मान सेनाध्यक्ष नियुक्त हुआ। जहांगीर स्वयं 'तुजुक-एव-जहांगीरी' में लिखता है—

"मुतुर्ज़ा खां के मरने पर राजा मान तथा अन्य सहायक सरदार दरबार में आये। इतिमद्दौलाह की सलाह पर मैंने राजा[1] मान को कांगड़ा-क़िला की आक्रमणकारी फौज का नेता मुक़र्रर किया।"

पर वह कांगड़े तक पहुँच न पाये। राह में ही उन्हें खबर मिली कि पंजाब के पहाड़ी प्रदेश के एक ज़मींदार संग्राम[2] ने उनके अपने राज्य पर धावा बोल दिया है, और राज्य के कई हिस्से हाथ में कर भी लिये हैं। संवाद पाते ही वह घर की ओर बिदा हो गये तथा संग्राम के साथ लड़ते हुए हत हुए। फलतः क़िले का पतन कुछ काल के लिए रुक गया।

शाहज़ादा (शाहजहां) की सिफारिश पर जहांगीर ने पुनः सूरजमल को कांगड़े भेजा किन्तु बजाय इसके कि वह क़िले के खिलाफ जोर लगाये, खुद ही मुग़लशासन के विरुद्ध विद्रोह कर बैठा। जहांगीर उन दिनों गुजरात में था। खबर पाकर वहीं से उसने एक ज़बर्दस्त फौज राय-रायां के नेतृत्व में भेजी जिसे यह आदेश था कि वह पहले सूरजमल के विद्रोह का दमन करे, फिर क़िला के लेने में ज़ोर लगाये।

दोनों ही कामों में राय-रायां सफल रहा। सूरजमल को हरा कर, वह कांगड़ा की ओर बढ़ा। रास्ते में उसे सूरजमल के मरने की खबर मिली।

हरीचन्द अल्पवयस्क था, फिर भी बड़ी बहादुरी के साथ क़िले की रक्षा करता रहा पर शक्तिशाली मुग़ल-सेना को वह हरा न सका। अंत में निरु-

---

१. शायद अम्बर या जयपुर के राजा मानसिंह।

२. संभवतः जम्मू के।

पाय हो कर उसने हार स्वीकार कर ली तथा १६ नवम्बर, १६२० को, क़िले को राय-रायां के हवाले किया। जहांगीर की मनोकामना पूर्ण हुई। अपने स्मरण-ग्रंथ में वह लिखता है—

"आज कांगड़ा के क़िले की फतह के सुसंवाद ने मेरे हृदय को आनन्द से विभोर कर दिया। इस महान् विजय के लिए मैंने कृतज्ञतापूर्वक कृपालु स्रष्टा के सामने सिर झुकाया। बृहस्पतिवार, मुहर्रम १, १०३० हि०, के दिन वह विजय प्राप्त हुई जो पिछले किसी सुलतान को नसीब न हो सकी थी, वह जो अदूरदर्शी लोगों को असंभव लग रही थी, अल्लाह ने मिहर करके स्वयं इस प्रार्थी को प्रदान किया।"

राय-रायां सुन्दरदास को राजा विक्रमजीत की उपाधि मिली। औरों को भी तरह-तरह के पुरस्कार दिये गये। दिल्ली में जोरों से खुशियाँ मनायी गयीं।

और, कांगड़े का यह विख्यात दुर्ग कटोच-वंश के हाथों से निकल गया तथा आगे के प्रायः १६० वर्षों के भीतर संभवतः एक दिन के लिए भी इस वंश का कोई आदमी इसके भीतर न घुसा। इसकी रक्षा के लिए एक जबर्दस्त सेना हमेशा वहाँ नियुक्त रही। क़िले के साथ-साथ कांगड़े का राज्य भी मुग़लों के हाथ आया, केवल राजगीर तालुका हरीचन्द के अधिकार में परवरिश के लिए छोड़ दिया गया।

१६२२ के शुरू में जहांगीर स्वयं कांगड़े आया तथा प्रान्त के प्राकृतिक सौन्दर्य पर मुग्ध होकर एक राजप्रासाद के निर्माण के लिए, जहाँ वह समय-समय पर आकर कुछ समय बिताया करे, हुक्म दिया। उसकी नींव आज भी मौजा गरगरी में विद्यमान है। ऐसा लगता है कि पीछे चलकर जब वह काश्मीर गया तो उसका इरादा बदल गया और इसकी पूर्ति न हो सकी। काश्मीर की सुषमा ने उसे अपने आकर्षण-सूत्र में बाँध लिया।

'वाकयात-ए-जहांगीरी' में वह अपनी यात्रा के संबंध में लिखता है—

"आगरे की सख्त गर्मी मेरे शरीर के लिए अनुपयुक्त थी, अतएव अपने शासन के १६वें साल में मैं उत्तर के पहाड़ी प्रदेशों की यात्रा पर चला, ताकि यदि वहाँ की आबोहवा मेरे अनुकूल साबित हो तो मैं किसी जगह, गंगा-तट पर, एक नगर बसाऊँ जहाँ गर्मियाँ बिता सकूँ। और यदि कोई

सुविधा की जगह न मिली तो मेरा इरादा काश्मीर की ओर जाने का था। मैं गंगा-तट पर स्थित हरिद्वार पहुँचा पर पहाड़ की तराई का मौसम मुझे पसन्द न आया। मैंने और आगे, जम्मू और कांगड़ा की ओर, जाने का निश्चय किया। १४वें दिन मैं बहलून पहुँचा। और चूंकि कांगड़े की हवा का मैं इच्छुक था, मैं साथ के ज्यादा लोगों को यहीं छोड़कर किले की ओर बढ़ा। नूरजहाँ के पिता इतिमुद्दौलाह चूंकि बीमार थे, मैंने उन्हें भी मीरबख्शी सादिक खां के जिम्मे इसी पड़ाव पर छोड़ दिया। दूसरे दिन खबर मिली कि खां की हालत खराब है तथा मौत के चिह्न नजर आने लगे हैं। नूरजहाँ बेगम के दुःख से द्रवित होकर मैं वापस लौट आया। शाम के वक्त मैं उन्हें देखने गया। वह उस समय बेहोशी की दशा में थे। नूरजहाँ बेगम ने जो मेरे बगल में खड़ी थी, हाथ के इशारे से मुझसे पूछा कि मैं उनकी संगीन दशा को देख रहा हूँ या नहीं। मैं उनके सिरहाने दो घंटों तक बैठा रहा; जब वह होश में भी आते थे तो ऐसी बातें करते जो समझ में न आती थीं। इस महीने के १७वीं तारीख को वह कजा कर गये। ऐसे विश्वासी तथा योग्य वजीर और एक बुद्धिमान कृपालु मित्र के मरने का मुझे अत्यन्त दुःख हुआ।

इसके बाद मैं कांगड़े गया तथा चार दिनों के सफर के बाद बाण गंगा के तट पर डेरा डाला। महीने के २४वीं तारीख को मैं किले में घुसा।"

किले के भीतर बादशाह ने प्रार्थनाएँ कीं, एक गऊ मारी गई, पूजाएँ हुई और अन्त में उसने हुक्म दिया कि किला प्रांगण में एक मस्जिद बनाई जाय।

कांगड़े का यह किला १७८३ तक मुगलों के अधिकार में रहा, फिर वह सिखों के हाथ आया।

१६२० के बाद का कांगड़े का इतिहास छापामार युद्धों का इतिहास है। राजा हरीचन्द तथा उनके उत्तराधिकारियों की अवस्था वही थी जो बालि के द्वारा निष्कासित होकर सुग्रीव की हुई थी। **"वन-वन फिरहिं बालि के मारे"** गोस्वामी तुलसीदास ने सुग्रीव के सम्बन्ध में लिखा था, एक लम्बे अर्से तक कटोच-वंश का भी कुछ यही हाल रहा। मुगलों से हारकर भी हरीचन्द ने उनके आधिपत्य को कुबूल नहीं किया, छापामार युद्ध जारी रक्खा और अन्त में स्वतन्त्रता की लड़ाई लड़ते हुए अपने प्राणों की आहुति दे दी। कहते हैं,

जहांगीर ने जीते-जी उनके चमड़े खिचवा लिये थे।

हरीचन्द की कोई सन्तान न थी। अतएव उनके बाद राजा धर्मचन्द के छोटे भाई चन्द्रभान चन्द ने मुगलों के खिलाफ युद्ध जारी रक्खा। महाराणा प्रताप की भाँति वह वन-वन भटकता रहा पर उसने हिम्मत न हारी, कस कर लड़ा पर अन्त में, जैसा कि उम्मीद की जा सकती है, बड़ी एवं शक्तिशाली मुग़ल-सेना के सामने उसे हार खानी पड़ी। बरसों के छापामार युद्ध के बाद—शायद औरंगज़ेब के राजत्वकाल में—वह गिरफ्तार हुआ और बन्दी होकर दिल्ली के जेलखाने में पड़ा रहा, वहीं उसकी मृत्यु भी हुई। आज़ादी के लिए लड़ते हुए उसने बार-बार मुग़ल-सेना के छक्के छुड़ाये; कांगड़े के लोग आज भी बड़े गर्व से उसकी लड़ाई के किस्से सुनाते हैं।

चन्द्रभान चन्द के बाद विजय-रामचन्द, उदयराज चन्द, भीमचन्द, आलमचन्द, हमीरचन्द, अभयचन्द तथा घमीरचन्द ने वंश-क्रम को जारी रक्खा पर इनमें से किसी के भी समय में कोई उल्लेखनीय घटना नहीं हुई। किसी तरह वे अपने जीवन के दिन काटते रहे।

१७५१ में घमंडचन्द ने गद्दी पायी, पर ऐसे वक्त में जो भारतवर्ष के इतिहास में कई प्रकार से घटनापूर्ण कहा जा सकता है। मुग़ल-साम्राज्य पतनोन्मुख हो चला था, उत्तर से अहमदशाह दुर्रानी, दक्षिण से मराठे उस पर चोट-पर-चोट दे रहे थे तथा प्रभुत्व-स्थापन के प्रयत्न में लगे हुए थे। चारों ओर अशान्ति, गोलमाल मचा हुआ था। उथल-पुथल की अवस्था थी। १७५२ में तत्कालीन मुग़ल बादशाह ने पंजाब, साथ-साथ निकट के पहाड़ी इलाकों को, अहमदशाह दुर्रानी के हवाले कर दिये। घमंडचन्द ने इस स्वर्ण-सुयोग को हाथों से न जाने दिया, एक शक्तिशाली सैन्य-दल का निर्माण करके कटोच-राज्य के समस्त पुराने इलाकों पर अधिकार जमा लिया; केवल कांगड़े का क़िला बच रहा जो अन्तिम मुग़ल नवाब सईफअलीखां के अधिकार-गत था। साम्राज्य की इस ढहती हुई हालत में भी उसने चालीस वर्षों तक क़िले को बचा रक्खा।

१६२१ के नवम्बर में क़िला मुगलों के अधिकार में आया था, तब से १७८३ तक—जब यह सिखों के हाथ पड़ा—मुगलों का इस पर आधिपत्य बना रहा। कहते हैं, क़िले के अधिकार में आने के बाद राज्य के अधिकांश

हिस्सों पर मुगलों ने अपनी हुकूमत क़ायम कर ली, केवल राजगीर तालुका को बतौर जागीर के कटोच-राजा के जिम्मे जीवन-निर्वाह के लिए छोड़ दिया। इसके बाद इस राजवंश की राजधानी कौन-सा स्थान बना, इसके सम्बन्ध में इतिहास मौन है; ऐसा लगता है कि इसके बाद कई पुश्त तक इस परिवार के लोगों का कोई निश्चित वास-स्थान न था, छापामार युद्ध में संलग्न वे जहाँ-तहाँ घर बनाते रहे। राजा हरीचन्द की बगावत के बाद शायद राजगीर का तालुका भी इनके हाथ से छिन गया। घमंडचन्द के गद्दी पर बैठने के साथ-साथ इस वंश के इतिहास का एक नया और महत्त्व-पूर्ण पृष्ठ खुला, एक नये परिच्छेद का आरम्भ हुआ।

१७५८ में दुर्रानी ने घमंडचन्द को जालन्धर दोआबा का सूबेदार मुकर्रर किया और इस प्रकार वह—घमंडचन्द—जलन्धर सूबा तथा सुतलज एवं रावी नदियों के बीच के सभी पहाड़ी राजाओं के सरदार या शासक बन गये। कटोच-वंश के अस्त भाग्य-दीप को उन्होंने पुनर्जीवित किया।

राजा घमंडचन्द

घमंडचन्द ने पिता से गद्दी नहीं पायी थी, खून की धारा बहाकर वह गद्दी पर बैठे थे। उनके चाचा राजा हमीरचन्द की मृत्यु १७४७ में हुई। उत्तरा-धिकारी उनका ज्येष्ठ पुत्र अभयचन्द हुआ जो निःसंतान १७६० में परलोक सिधार गया। अतः राजगद्दी उनके एक चाचा गंभीरचन्द को मिली। पर वह स्वयं वृद्ध हो चुके थे, साल भर के अन्दर ही वह भी संसार से विदा हो गये। उनके ११ पुत्र थे पर वे सभी स्वभाव के बड़े उदंड तथा क्रूर थे। स्वभावतः राज्य के अफ़सर तथा प्रजा दोनों ही उनसे असन्तुष्ट थे। घमंड-चन्द बहुत दिनों से फौज की सदारत करके लोकप्रियता एवं ख्याति प्राप्त कर चुके थे, बुद्धिमान तो थे ही। स्वर्ण-संयोग पाकर उससे समुचित लाभ उठाया, फौज के अफसरों को मिलाया और जबकि गंभीरचन्द के लड़के व्यास नदी के तट पर अपने पिता के अंतिम संस्कार में लगे हुए थे, कुछ सिपाहियों को लेकर वहाँ आ उपस्थित हुए तथा उन्हें क़ैद करके उनकी आँखें फोड़वा डालीं। एक अँधेरी गुफा में वे, सब-के-सब, बंद कर दिये गए जहाँ अन्न-जल के बिना शीघ्र ही उनके प्राण शरीर छोड़कर चल बसे। यह १७६१

की घटना है। हिन्दुस्तान के इतिहास में १७६१ महत्त्व का साल है, कटोच-वंश के भी। यही वर्ष है जबकि पानीपत की लड़ाई में मराठे बुरी तरह पिटे थे तथा उनकी शक्ति का पतन हुआ था; पांडीचेरी में बढ़ती हुई फ़्रांसीसी शक्ति के विनाश का भी यही साल था, कटोच राजवंश के पुनः उत्थान का भी।

सारे हिन्दुस्तान में अराजकता फैली हुई थी। मुग़ल साम्राज्य पतनोन्मुख था। उत्तर से अहमदशाह दुर्रानी, दक्षिण से मराठे उस पर वार कर रहे थे तथा शक्ति-संचय के लिए संघर्षशील थे। १७५२ में तत्कालीन मुग़ल बादशाह ने पंजाब तथा पहाड़ी इलाकों को विवश होकर अहमदशाह के सुपुर्द कर दिया। वह इन प्रान्तों में अपने प्रतिनिधि रखकर हिन्दुस्तान से चलता बना। जब तक वह यहाँ रहा, सिख चुप रहे, पर जैसे ही वह हिन्दुस्तान से बाहर हुआ, वे उसके प्रतिनिधियों के खिलाफ उठ खड़े हुए। तीन बार अहमदशाह सिखों को सजा देने के लिए वापस आया पर सिखों के छापामार युद्ध ने उसे परेशान कर डाला, अपने उद्देश्य में वह सफल न हो सका। यमुना से झेलम तक के इलाक़े पर सिखों का शासन चलता रहा। १२ से कुछ अधिक ही सिखों के मिसल राज करते रहे, आपस में ये लड़ते भी रहे पर दुश्मन के आने पर अद्भुत एकता का परिचय देते रहे।

उत्तर में गुरखे शक्ति-संचय कर रहे थे। कांगड़े में पहाड़ी राजाओं ने भी समय अनुकूल देखकर स्वतंत्रता की घोषणा कर दी।

घमंडचन्द के अभ्युदय का यही समय था। गद्दी पर बैठते ही उन्होंने पड़ोसी राजाओं के साथ युद्ध ठान दिया तथा शीघ्र ही गुलेर, जसवन, सिबा और दतारपुर के राजाओं को हरा कर अपने अधीन कर लिये। कोटलहर पर आक्रमण करके उसके आधे हिस्से को अपने राज्य में मिला लिया। फिर कूलू के राजा टेढ़ीसिंह के विरुद्ध, १७६५ में, युद्ध की घोषणा करके उन पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित किया। और इस तरह कुछ ही दिनों में वह काफी बलवान हो गये। चारों ओर उनकी विजय का डंका बज उठा।

अहमदशाह अब्दाली जब अंतिम बार सिक्खों से पंजाब छीनने आया तो बल के द्वारा उद्देश्य-सिद्धि न होते देखकर मेल-मिलाप के रास्ते पर चला।

घमंडचन्द की वीरता एवं बुद्धिमानी की शोहरत उसके कानों तक भी जा पहुँची थी। अतएव उसने आते ही उन्हें जालन्धर तथा समीप के पहाड़ी इलाकों का अपना प्रतिनिधि मुकर्रर किया और उनके कन्धों पर शासन-भार देकर १७६८ में चलता बना।

घमंडचन्द के सहयोग से दुर्रानी बादशाह को भले ही अधिक लाभ न हुआ हो, घमंडचन्द के लिए यह अवश्य ही स्वर्ण-सुयोग साबित हुआ। कटोच-राज्य के प्रभाव के पुनर्निर्माण के लिए इससे बढ़कर दूसरा मौका उन्हें न मिल सकता था, सो जालन्धर के ११ पहाड़ी राजाओं पर अपनी प्रभुता स्थापित करके वह उनसे कर वसूल करने लगे। उनकी बहाली के कुछ ही दिनों के बाद चम्बा के राजा की मृत्यु हो गयी। उनका पुत्र नाबालिग, छोटी उमर का था, अतः घमंडचन्द ने फौरन पाथर के किले पर धावा बोलकर उसे भी अपने अधिकार में कर लिया। पर चम्बा की राजमाता जम्बू राजा की पुत्री थी अतएव हार न मान कर उन्होंने राजा रणजीत देव की फौज की मदद से पुनः अपने खोये हुए इलाके को प्राप्त किया और इस तरह राजा घमंडचन्द को एक विधवा रानी के हाथों पहली हार खानी पड़ी। यही नहीं, दिल्ली दरबार की ओर से शासन करने वाले नवाब सईफअलीखां के हाथों से वह अपना पुश्तैनी दुर्ग कोट-कांगड़ा छुड़ाने में भी असमर्थ रहे।

घमंडचन्द ने तीसरी हार एक सिख सरदार जस्सासिंह से—जो रामगढ़िया मिसल का नेता था——खायी। जस्सासिंह ने १७७० के आस-पास राजा घमंडचन्द पर आक्रमण करके उन्हें परास्त किया पर इसके बाद ही उसकी लड़ाई एक दूसरे मिसल के नेता सरदार जयसिंह के साथ ठन गयी और इस झमेले की परिस्थिति से लाभ उठाकर पहाड़ी राजाओं ने पुनः अपनी-अपनी आज़ादी हासिल कर ली। इसके बाद ही राजा घमंडचन्द का देहान्त हो गया।

अधिक दिनों तक राजा घमंडचन्द शासन न कर पाये——गद्दी पाने के १२ साल के भीतर ही काल कवलित हो गये, पर इस छोटे अर्से में ही वह कटोच-वंश के पुनरुत्थान के लिए जमीन तय्यार कर गये। अपने भतीजों का खून बहाकर वह तख्तनशीन हुए थे, फिर भी उनकी ऐसी लोकप्रियता थी कि प्रजा ने दिल खोलकर उनका स्वागत किया, उनके प्रति विरोध

का भाव न दिखाया। शासनकार्य में वह पूरे दक्ष थे तथा बारह वर्षों में राज्य को पूरी तरह सुसंगठित करके उन्होंने कई मजबूत दुर्गों का निर्माण किया जिनमें रिश्राह तथा पथुश्रार (४,५६६–फुट) के किले विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

कांगड़े की विभिन्न कलाओं—खासकर चित्रकला—को उनसे काफी संरक्षण मिला तथा राजा संसारचन्द ने पिता के पद-चिह्न पर चलकर ही इन्हें ऊँचा उठाया अर्थात् कला-प्रेम उनके रक्त में था।

घमंडचंद के बाद गद्दी पर उनके पुत्र तेगचन्द बैठे पर तख्तनशीन होने के कुछ महीनों के भीतर ही वह भी संसार से विदा हो गये। उनके तीन पुत्र थे, जिनमें संसारचन्द सबसे बड़े थे। अतः ताजपोशी का सेहरा इन्हीं के सिर पर बँधा।

३

महाराज संसारचन्द

संसारचन्द के पिता की मृत्यु तब हुई जब वह केवल दस ही साल के थे। समय भी बड़े उथल-पुथल का था[1]। मुग़ल-साम्राज्य की नींव हिल ही नहीं गयी थी बल्कि सल्तनत की इमारत का ढहना जोरों से शुरू हो चुका था। सर्वत्र अराजकता फैली हुई थी।

पंजाब दुर्रानियों को मिल चुका था, पर उनका शासन कमज़ोर था। जिस ताक़त के साथ उन्होंने इसे प्राप्त किया था उसे वे शासन में न ला सके थे।

कांगड़ा का क़िला अब भी मुग़ल सामन्त सईफ़अली खाँ के अधिकार में था। १८वीं शताब्दी से मध्य भाग से ही सिखों की शक्ति 'दिन-दूनी रात चौगुनी' बढ़ रही थी और वे लूटपाट में लगे हुए थे। इनके एक सरदार जस्सासिंह रामगढ़िया ने सर्वप्रथम पहाड़ी इलाकों पर आक्रमण किया तथा कांगड़ा, चम्बा, नूरपुर आदि राज्यों पर अधिकार जमाया, और इनसे कर वसूल करने लगा। १७७५ में वह जयसिंह कन्हैया के द्वारा पराजित हुआ; पहाड़ों से उसे विवश होकर भागना भी पड़ा।

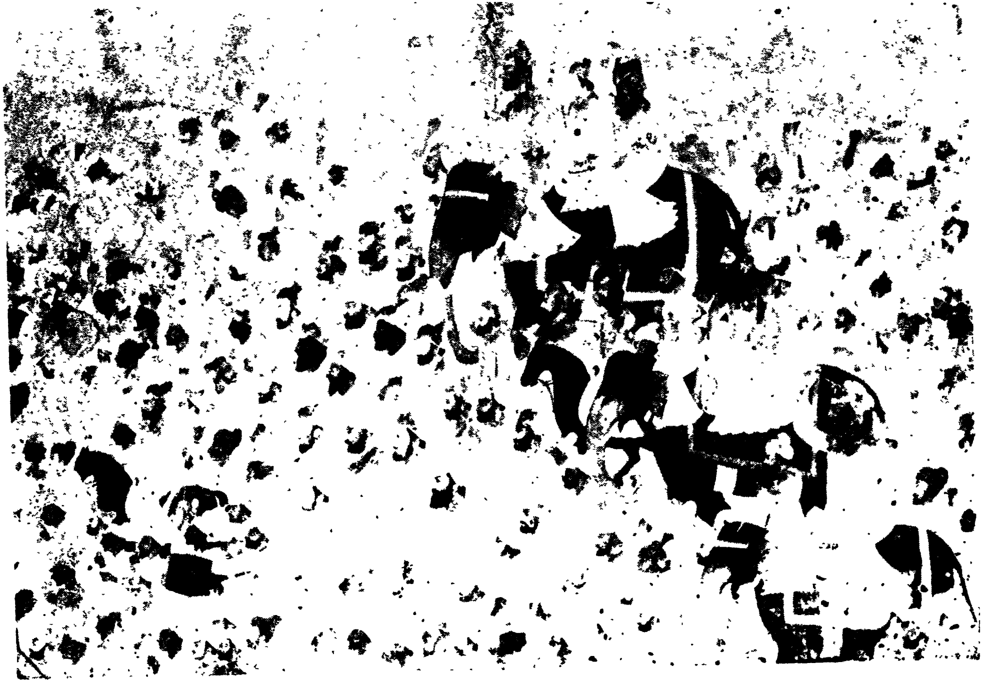
---

१. संसारचन्द का जन्म व्यास नदी के तट पर विजयपुर नामक एक क़िलाबन्द शहर में जो अब ध्वंसप्राय है, हुआ था। क़िले की स्थिति का पता उसके फाटक तथा जबर्दस्त दीवारों से जो अब भी ढहती हुई दशा में खड़ी हैं, लगता है। ध्वंसप्राय राजप्रासाद की एक दीवार पर संगमरमर के एक टुकड़े पर लिखा है—

राजा संसारचन्द का जन्म स्थान

जनवरी, सन् १७६५ ई०

कहते हैं, पाँच साल की उम्र तक संसारचन्द ने यहीं निवास किया था।



होली का जलूस—महाराज संसारचन्द हौदे पर



आलमपुर में महाराज संसारचन्द का होली दरबार

संसारचन्द की सबसे बड़ी तमन्ना थी मुसलमानों के हाथ से अपने पूर्वजों की सुकृति कांगड़ा-दुर्ग को स्वतंत्र कराना। कम उम्र होने पर भी गद्दी पर बैठते ही उन्होंने इसके लिए यत्न किये पर वह सफल न हो सके। तब जयसिंह कन्हैया की उन्होंने सहायता माँगी और इसे प्राप्त भी किया। दोनों की सम्मिलित फौज ने क़िले पर एक ज़बर्दस्त घेरा डाला (१७८१-८२) नवाब सईफअली खां स्वयं मरण-शय्या पर पड़ा हुआ था, उसकी सेना ने मुक़ाबला किया पर अंत में उसे हार खानी पड़ी तथा १७८३ में किला उसके हाथों से निकल गया। पर जयसिंह ने धूर्तता की, क़िले में संसारचन्द से पहले घुसकर अपने पंख फैला दिये। संसारचन्द को इससे क्षोभ और निराशा हुई; पर वह चुप रह गये; अनुकूल समय की प्रतीक्षा करने लगे।

इसके संबंध में W. A. Campbell (Punjab Notes and Querrees, Jan. 1885) का कथन इस प्रकार है :—

१८४४ में महासिंह तथा जयसिंह के बीच अमृतसर में झगड़ा उठ खड़ा हुआ कि जम्मू के लूटपाट की चीजों में किसका क्या हिस्सा हो। जयसिंह ने अपनी तटस्थता के लिए हिस्सा माँगा, महासिंह (महाराजा रणजीतसिंह के पिता) ने कहा—'आपने तो लड़ाई में कोई हिस्सा नहीं बँटाया, फिर हिस्सा क्यों माँग रहे हैं ?' इस पर जयसिंह का क्रोध भभक उठा और उन दोनों के बीच का सम्बंध-सूत्र टूट पड़ा, लड़ाइयाँ हुईं जिनमें जयसिंह सफल न हो सका और अन्त में निराश होकर कांगड़ा चला गया।

आगे का हवाला कैम्पबेल के ही शब्दों में सुनिए—Raja Sansar Chand, who had an army on the banks of the Biyas, now sent a messenger, desiring an interview with Sardar Mahan Singh, and these two chiefs met at Kahimgarh. Sansar Chand's object was to obtain the aid of Mahan Singh in taking Kangra from Jai Singh. This Mahan Singh promised to do, and he opened up negotiations with Jai Singh for the purpose, but they fell through. On his return from the Biyas he took the village of Khanian from the Nihang Sikhs, and settled down in Ramnagar....Mahan Singh, who

was an ardent admirer of Raja Sansar Chand, permitted his friendship for that prince and perhaps his enemity to embroil him in another quarrel with that Sardar. Sansar Chand sent an envoy to Mahan Singh with valuable presents and asked his assistance in retaking Kangra by force... offering...a sum of two lakhs of rupees. Mahan Singh sent a large force under the Commander-in-Chief Dewan Daya Ram...and they rendered such valuable assistance that Jai Singh Kanhaiya was forced to surrender...The Dewan was instructed to demand the stipulated payment, but Sansar Chand was loathe to part with the money··· and framed innumerable excuses...Mahan Singh was enraged at the perfidy practised by the Raja, but his hands were too full to permit him to wreak his vengeance as he wished, so he postponed that satisfaction till another opportunity.

मतलब यह कि राजा संसारचन्द ने, जिन्हें धोखा देकर जयसिंह ने क़िले पर कब्जा कर लिया था, महासिंह की सहायता की, याचना की। महासिंह ने पहले तो जयसिंह के साथ पुनः झगड़ा मोल लेना न चाहा पर राजा संसार चन्द के लिए उसके हृदय में प्रशंसा के भाव थे, अतएव अन्ततोगत्वा अपनी एक सेना दीवान दयाराम के नेतृत्व में कांगड़े भेजी। राजा संसारचन्द ने कहा, कि सफल होने पर मैं दो लाख रुपये दूंगा। छः महीनों तक जयसिंह लड़ता रहा पर अन्त में जब उसका रसद समाप्त हो गया तब उसे विवश होकर क़िला छोड़ देना पड़ा। महासिंह के प्रतिनिधि ने तब दो लाख रुपयों की माँग की, संसारचंद हीलाहवाला करने लगे। महासिंह क्रोधित हो उठे पर अभी लड़ाई में जूझना ठीक न समझ कर उपयुक्त समय की प्रतीक्षा करने लगे।

इसके बाद सरदार महासिंह ने दूसरी बार जम्मू पर चढ़ाई की। रास्ते में उनके पुत्र रणजीतसिंह बीमार पड़ गये, फिर भी २०० घुड़सवार के साथ, उनकी चिकित्सा की समुचित व्यवस्था करके, वह आगे बढ़े। रामनगर

पहुँच कर उन्होंने पुत्र के आरोग्य-लाभ के लिए पूजाएँ कीं, फिर उनके स्वस्थ हो जाने पर खूब जलसे भी किये। यहीं जयसिंह ने रणजीतसिंह के साथ अपनी पुत्री के विवाह का प्रस्ताव महासिंह के पास भेजा था; कारण यह था—

दीवान दयाराम और राजा संसारचन्द के बीच दो लाख रुपयों को लेकर जो झगड़ा उठ खड़ा हुआ, इसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। जयसिंह को जब इसकी खबर लगी तो उसने आखिरी वक्त में क़िला-समर्पण का अपना विचार बदल डाला, पर उसको आर्थिक अवस्था अतिशयक्षीण हो चुकी हुई थी, अतएव वह अपने इस इरादे पर अधिक काल तक टिका न रह सका। अन्त में संसारचन्द से यह वादा लेकर कि वह महासिंह के विरुद्ध उसकी सहायता करेंगे, उसने क़िला खाली कर दिया।

संसारचन्द ने, पर, अपना वादा न रक्खा, यह कहकर कि महासिंह की महती शक्ति के सामने उनका ठहरना कठिन होगा। जयसिंह के सामने अब आशा के कोई चिह्न न रहे, अतः अपनी पुत्र-वधू माई सदाकौर की राय पर उसने उनकी पुत्री के विवाह का प्रस्ताव महासिंह के पास कहला भेजा। महासिंह ने इसे सहर्ष स्वीकार किया, रणजीतसिंह के साथ विवाह सम्पन्न हुआ तथा इसके बाद आजन्म दोनों घनिष्ठ मित्र बने रहे।

माई सदाकौर के साथ आगे चल कर राजा संसारचन्द की अनबन हो गयी और उसने रणजीतसिंह की मदद चाही। १८०३ में रणजीतसिंह के कांगड़ा आने पर संसारचन्द उनसे जूझना ठीक न समझ कर पहाड़ों के भीतर चले गये। उनके साथी नूरपुर के राजा के हाथों से नौशहर का क़िला छीनकर रणजीतसिंह ने माई सदाकौर के हवाले किया और स्वयं लाहौर चलते बने।

जब क़िले पर संसारचन्द जयसिंह की मिली-जुली सेना ने घेरा डाल रक्खा था, जिसका हवाला ऊपर दिया जा चुका है, एक यूरोपियन यात्री, फारेस्टर, ने बिलासपुर से नूरपुर जाते हुए इसे देखा था। अपने यात्रा-विवरण में वह लिखता है—

The descendants of this Chief (Akbar I) who are

of the Sheah sect of Mohometans, continued in the possession until the present period, when the Rajah of Kangrah, on some pretence, laid the districts waste and besieged the fort.

अर्थात् अकबर के वंशजों के जो शिया हैं, दखल में यह (क़िला और उसके आस-पास की भूमि) तब तक रहा, जब तक कि कानग्रह् के राजा ने एक बहाना करके जिले को लूटा नहीं और क़िले पर घेरा नहीं डाला।

बिलासपुर के राजा नाबालिग थे, शासन उनकी माँ के हाथों था। वह संसारचन्द से लड़ रही थीं और क़िले के भीतर की मुसलमानी पलटन के साथ मिली हुईं थीं। इसके संबंध में भी वह आगे चल कर लिखता है—

"स्वयं दुश्मन को भगाने में असमर्थ होकर मुसलमानों ने बिलासपुर की रानी की सहायता माँगी, एक सच्ची वीरांगना की भाँति रानी ने फौरन अपने पड़ोसी को जबर्दस्त मदद भेजी। यही नहीं, उसका पक्ष लेकर वह अपने दुश्मन से बदला लेने के लिए, इसके पहले ही कानगढ़ के प्राय: प्रत्येक गाँव को लूट कर वह बर्बाद कर चुकी थी। राजा (संसारचन्द) का कहना है कि रानी ने मेरे इस इलाके को निसहाय पाकर अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए ऐसा किया है, साथी की मदद एक बहाना मात्र है, पर उनका यह कथन सर्वथा असंगत है।"

फारेस्टर के कथनानुसार बिलासपुर-रानी के ३०० घुड़सवार तथा ८,००० पैदल सिपाही क़िले के बचाने में लगे हुए थे। पर इनके रहने, खाने-पीने, का प्रबन्ध अत्यन्त असन्तोषजनक था, चार मास तक ये केवल वृक्ष की डालों की बनी छोटी-कुटियों में निवास करते रहे। फारेस्टर लिखता है—

"अपने प्राय: दस साल के पुत्र और एक संन्यासी के साथ रानी पास के एक क़िले में ठहरी हुई स्वयं युद्ध का संचालन कर रही थीं। मैं एक वट-वृक्ष के नीचे के अफ़सरों के साथ बैठे हुए इनके सेनापति से मिला। उन्हें अपनी जेब से एक रुपया निकाल कर भेंट भी दिया।"

गर्ज़ यह कि रानी की भेजी हुई पलटन एक बड़ी दुरावस्था की दशा में थी, फिर भी अपने कार्य में संलग्न थी।

क़िले के इस घेरे का यूरोपियन यात्रियों में से दो फारेस्टर तथा भीने

ने उल्लेख किया है पर दोनों के कथन में काफ़ी अन्तर है। यही नहीं, भारतीय इतिहासकारों ने भी कई ग़लत बातें लिख डाली हैं, जैसे कि मुहम्मद लतीफ़ का यह कहना कि जयसिंह कन्हैया ने सईफअली खां के पुत्र जीवन खां को घूंस देकर क़िला खाली कराया, पर और बातें चाहे सच हों या ग़लत, पर इतना अवश्य है कि क़िले के पतन के बाद वह जयसिंह कन्हैया के हाथों में चला गया तथा पूरे चार वर्ष उसके अधिकार में रहा। क़िला किस तरह जयसिंह के हाथ लगा इसके संबंध में एक रोचक कहानी है। कहते हैं, कि क़िले पर घेरा पड़ने के प्रायः एक साल के बाद बूढ़े नवाब की मृत्यु हो गयी। दफ़नाने के लिए जब उनका शव क़िले से बाहर ईमामबाड़े में ले जाया जा रहा था, जिसकी खबर पहले से संसारचन्द तथा जयसिंह को पहुँच चुकी हुई थी, जयसिंह के सिपाहियों ने संसारचन्द को चकमा देकर क़िले पर अधिकार कर लिया। संसारचन्द को इस बात से बड़ा रंज हुआ। 'पर अब पछताये होत का जब चिड़ियाँ चुग गई खेत', विवश होकर वे चुप बैठे रहे; अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा करने लगे।

संसारचन्द ने इसके कुछ दिनों के बाद कई प्रयत्न इसके लेने के किये पर सफल न हुए। अंत में १७८३ में जयसिंह के खिलाफ़ महासिंह सुकेरचकिया, जस्सासिंह रामगढ़िया तथा संसारचन्द का एक सम्मिलित दल तय्यार हुआ जिसकी मुठभेड़ उसके संग बटाला के पास हुई जिसमें जयसिंह का प्यारा पुत्र गुरुबख्शसिंह मारा गया। पुत्र की मृत्यु तथा राज्य के एक महान् हिस्से की क्षति ने बूढ़े जयसिंह का दिल तोड़ डाला और धीरे-धीरे उनकी शक्ति क्षीण हो चली। तीन साल तक क़िले के लिए संसारचन्द लड़ते रहे, अन्त में जयसिंह ने विवश होकर क़िला खाली कर दिया तथा पहाड़ी राज्यों पर से अपना प्रभुत्व हटा लिया, बदले में समतल क्षेत्र के उसके जिन इलाकों पर संसारचन्द ने कब्जा कर लिया था वे उसे वापस मिले[1]।

---

१. फारेस्टर के कथनानुसार संसारचन्द और सिखों के गठबन्धन का एक नतीजा यह हुआ कि सिखों ने राज्य भर में उथल-पुथल मचा डाला, तरह-तरह से लूटमार मचाया जिसके परिणामस्वरूप संसारचन्द की वार्षिक आय ७ लाख रुपये से गिर कर बहुत थोड़ी रह गयी, पर 'अंत भला तब सब

युगों के बाद कांगड़े का यह किला पुनः कटोच-वंश के हाथ में वापस आया इसकी मदद से और एक ज़बर्दस्त सेना का संगठन करके संसारचन्द ने कुछ ही दिनों में पहाड़ी के सभी राजाओं के ऊपर अपना आधिपत्य स्थापित किया तथा उन्हें अपने दरबार में आने तथा कर भेजने को विवश किया। तीरा-सुजानपुर के राजप्रासाद के दरबार 'हाल' में २२ द्वार हैं; कहते हैं, २२ पहाड़ी राजाओं में से हर-एक के लिये एक-एक दरवाजा बनाया गया था और वे अपने खास दरवाजे से होकर ही अन्दर आते थे।

मि० बार्नस् (Barnes) ने लिखा है—"**और इस तरह उन्हें (संसार चन्द को) वह ख्याति प्राप्त हुई जो उनके किसी पूर्वज को कभी नसीब न हुई थी। २० वर्षों तक उनका एकतंत्र शासन चलता रहा; किसी को यह साहस न हुआ कि उनकी इच्छा का विरोध करे।**"

अपनी पुश्तैनी सम्पत्ति को ही हासिल कर वह चुप न रहे। पड़ोसी

भला,' क़िला पाकर उन्होंने संतोष किया।

क़िला किस तरह संसारचन्द के हाथों आया, इसे लेकर इतिहासज्ञों के बीच काफी मतमतान्तर हैं। पर जो बात सबसे मान्य प्रतीत होती है वह यह है कि संसारचन्द ने गद्दी पाकर जयसिंह कन्हैया को जिसने १७७५ के करीब कांगड़ा घाटी पर दखल जमाया था तथा जिसकी उस समय सर्वत्र तूती बोल रही थी, सईफ खां के खिलाफ़ चढ़ाया जिसके फलस्वरूप जयसिंह ने क़िले पर घेरा डाला। संसारचन्द की उम्र उस समय बहुत कम, दस साल की, थी। अतएव वह स्वयं अधिक कुछ न कर सके और अंत में जयसिंह के द्वारा छले गये।

१७८० के करीब कन्हैया तथा सुकरचकिया मिसलों के बीच झगड़ा उठ खड़ा हुआ। संसारचन्द ने जो उस वक्त १५-१६ साल के हो चुके हुए थे, इससे लाभ उठाने का सोचा तथा सुकरचकियों के साथ मेल करके क़िले पर घेरा डाला। घेरा के प्रायः चार वर्षों के बाद जयसिंह के हाथों से वे क़िले को निकाल सके। इन्हीं दिनों का एक चित्र आलमपुर में प्राप्य है जिसमें संसार-चन्द फौज के साथ क़िले की ओर बढ़ते हुए दिखाये गये हैं तथा जिसके पृष्ठ भाग पर लिखा है—'संवत् १८३७, २३वीं कार्तिक को संसारचन्द ने कांगड़ा प्रान्त तथा नगर पर विजय प्राप्त की'। लेख स्थानीय लिपि में है।

राज्यों से उन्होंने उन समस्त इलाकों का तकाजा किया जो मुगलों के अधिकार में थे और इसे लेकर उनकी चंबा, मंडी, कुतलेहर आदि के राजाओं से घोर युद्ध हुए जिनमें संसारचन्द सफल हुए और शीघ्र ही उनकी ख्याति दूर-दूर तक फैल गई; अब वे 'महाराज' संसारचन्द के नाम से पुकारे जाने लगे[1]। उनका दरबार बाहर से आये लोगों से सदा भरा-पूरा रहने लगा। कांगड़ा के इतिहास का यह स्वर्ण-युग था। 'तारीख-ए-पंजाब' का लेखक लिखता है—

"बहुत साल तक उन्होंने बड़े आनन्द के दिन काटे। वह अपने व्यवहार में उदार, प्रजा के प्रति नौशेरवां की तरह दयालु, तथा अक़बर की भाँति औरों के गुण के गाहक थे। झुंड-के-झुंड गुणीजन तथा फौज के पेशेवर सिपाही आदि, कांगड़े आते और उनसे पुरस्कृत होकर आनन्द लाभ करते थे। वे लोग जो औरों की तृप्ति के लिए ही जीते हैं चारों ओर से वहाँ पहुँचते तथा उनके औदार्य्य से लाभान्वित होते थे। खेल दिखाने वाले और कथाकार, इतनी संख्या में वहाँ पहुँचते और उनसे इतना अधिक और कीमती पुरस्कार पाते थे, कि वह गुण-पारखी के नाते उस जमाने के हातिम कहे जाने लगे थे तथा उदारता में, रुस्तम।"

---

१. संसारचन्द अपने पड़ोसी राजाओं पर विजय प्राप्त करके यदि उनके साथ अच्छा सुलूक करते तो शायद वे अपने इस पोजीशन को अधिक दिनों तक धारण करके महाराज-पद की सार्थकता सुरक्षित रख सकते थे पर 'प्रभुतापाय काह मद नाहीं' प्रभुता के मद ने उन्हें ऐसा न करने दिया। दृष्टांत रूप में मंडी को लीजिए जिसका उल्लेख लेपेल ग्रिफिन्स ने अपनी पुस्तक 'पंजाब के राजे' में किया है। १७७६ में मंडी के राजा का देहान्त हो गया। उस समय उनका लड़का ईश्वरीसेन केवल पाँच साल का था। संसारचन्द ने मौका अच्छा देखकर मण्डी पर हमला कर दिया तथा ईश्वरीसेन को बन्दी बनाकर १२ वर्षों तक उसे कैद में रखा। नतीजा यह हुआ कि जब कहलूर के राजा के बुलावा पर गुर्खा अमरसिंह थापा ने कोट-कांगड़ा पर चढ़ाई की तो अन्य राजाओं के साथ-साथ ईश्वरीसेन भी उससे जा मिला। गुर्खों के कांगड़ा आने का विस्तृत हाल आगे पृष्ठों में मिलेगा।

चित्रकला के वह सर्वश्रेष्ठ पोषक तथा पारखी माने जाते हैं। उनके दरबार में उच्चकोटि के न जाने कितने चितेरों ने स्थान पाया था। उनके अंकित चित्र आज इस कला की अमूल्य निधि हैं तथा संसार के बड़े-बड़े चित्रशालाओं की शोभा बढ़ा रहे हैं।

इमारतों का भी उन्हें बड़ा शोक था, बाग़ लगाने का भी। उनकी बनाई हुई इमारतें तथा बाग बड़े ऊँचे दर्जे के थे। कहते हैं, आलमपुर में उन्होंने जिस बाग का निर्माण किया था वह लाहौर के शालिमार बाग से मुकाबला करता था।

शासन के प्रारम्भिक दिनों में उनके दरबार नदौन के पास अमतर में हुआ करते थे। उसकी ऐसी रौनक थी कि जो वहाँ जाता उसे फिर लौटने की इच्छा नहीं होती थी; कहावत मशहूर थी——

आयेगा नदौन,
जायेगा कौन ?

पीछे चलकर पर वह ज्यादातर तीरा-सुजानपुर और आलमपुर में रहने लगे। बीस साल तक पहाड़ी-प्रदेश पर उनका आधिपत्य एकछत्र शासन बना रहा और इसमें सन्देह नहीं, कि यदि महाराजा रणजीतसिंह जैसा प्रतिद्वन्द्वी पैदा न हुआ होता वह पंजाब तक में कटोच-साम्राज्य की स्थापना, जो उनका स्वप्न था, करने में अवश्य समर्थ हो पाते। कहते हैं, उनके दरबार के लोग जब आपस में मिलते तो एक-दूसरे से कहते थे—"**लाहौर परापत**" (लाहौर प्राप्त हो !), यानी यह एक पारस्परिक नमस्कार का नियम बन गया था।

तभी, जैसा कि आगे के परिच्छेद से जाहिर होगा, महाराजा रणजीतसिंह की विजय दुन्दुभि भी पंजाब में बज उठी तथा काबुल और काश्मीर तक उनके भय से थर्रा उठे। महाराज संसारचन्द यद्यपि काफी शक्तिशाली हो चुके हुए थे, फिर भी उनकी शक्ति के सामने उनका पलड़ा नीचा ही पड़ता था। और यही कारण है कि भारतवर्ष के इतिहास में उन्हें जो स्थान मिलना चाहिए था वह न मिल सका।

महाराज संसारचन्द की शक्ति को जो सबसे बड़ी ठोकर लगी वह दो

कारणों से—

१. उनका विलासपुर के हड़पने का यत्न,

२. गुर्खों का आक्रमण,

१८०३-४ में महाराज संसारचन्द ने विलासपुर पर यकायक आक्रमण करके सुतलज नदी के दक्षिण-तटवर्ती उसके सारे इलाके पर कब्जा कर लिया। इस घटना से पहाड़ के सभी राजे सशंकित हो उठे, उनके कान खड़े हो गये यह सोचकर कि न जाने कब हमारे ऊपर भी वह ऐसा ही कर बैठें। संयोगवश उन्हीं दिनों नेपाल के गुर्खे भी साम्राज्य-स्थापन के प्रयत्न में लगे हुए थे—गोगरा से लेकर सुतलज तक उन्होंने अधिकार जमा लिया था। कुमाऊँ, गढ़वाल, सिरमूर तथा शिमला के सारे पहाड़ी रजवाड़े उनके पाँवों तले आ चुके हुए थे। १८वीं सदी के दूसरे हिस्से से ही उनके हृदय में इसकी उत्कट अभिलाषा हिलोरें मार रही थी और वे नेपाल से काश्मीर तक पर अपना प्रभुत्व जमाना चाहते थे। कई बार उन्होंने महाराजा रणजीतसिंह से कहा भी, कि वे दोनों साथ मिलकर काबुल के दुर्रानियों पर हमला करें पर महाराजा की आँखें स्वयं काश्मीर पर लगी हुई थीं, अतएव उन्होंने इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया।

गुर्खों ने हारकर स्वयं आगे बढ़ने का इरादा किया तथा इसी सिलसिले में कांगड़े पर चढ़ाई भी कर दी पर संसारचन्द ने उन्हें मार भगाया। दोनों के बीच एक समझौता हुआ जिसके अनुसार सुतलज सीमा मानी गई और यह तय पाया कि इसके आगे कोई न बढ़े।

यही स्थिति थी जब महाराज संसारचन्द ने बिलासपुर पर आक्रमण किया। भयभीत होकर पहाड़ी राज्यों ने मिलकर गुर्खों के पास कांगड़े पर पुन: आक्रमण करने के लिए आमंत्रण भेजा और उनसे वादा किया कि यदि वे ऐसा करेंगे तो वे खुलकर अपनी-अपनी फौजों से उनकी सहायता करेंगे। गुर्खे तो इस ताक में थे ही, उन्होंने बड़ी तत्परता से उनके इस निमन्त्रण को स्वीकार कर लिया।

संसारचन्द की सबसे बड़ी भूल थी उनका पहाड़ी इलाके के विभिन्न राज्यों के साथ चतुरता-रहित व्यवहार; बजाय बल के यदि वे उनके साथ भ्रातृभाव-पूर्ण तरीके से पेश आते तो गुर्खों तथा महाराजा रणजीतसिंह के

बावजूद भी उनकी शक्ति उत्तरोत्तर वृद्धि पाती जाती। Kangra Gazetteer में लिखा है कि संसारचन्द ने अपने सुशिक्षित पर अर्थलोभी फौज के सिपाहियों द्वारा पहाड़ के सभी राजाओं को कर देने तथा लड़ाई के लिए सैनिक प्रस्तुत करने को बाध्य किया था। केवल कुल्लू के साथ उनका हस्तक्षेप कम रहा। १७९२ में मंडी से चोहर छीनकर उन्होंने कुल्लू के राजा को दे दिया था पर पीछे चलकर यह भी वापिस ले लिया।

राजा प्रीतमसिंह ने १८०१ में कांगड़ा के खिलाफ चम्बा को सहायता देने का वचन दिया पर पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष के कारण पहाड़ी राजे सम्मिलित कार्रवाई न कर सके। प्रीतमसिंह की १८०९ में मृत्यु हुई तथा उनके पुत्र विक्रमसिंह गद्दी पर बैठे। विक्रमसिंह की रानी को कोई सन्तान न थी, अतएव उनकी मृत्यु पर दासी से उत्पन्न उनके अवैध पुत्र अजीतसिंह ने गद्दी पाई। विक्रमसिंह के चाचा किशनसिंह उस वक्त कांगड़े में रहा करते थे। उन्होंने कुल्लू की गद्दी की माँग की; इसके सम्बन्ध में गज़ेटियर का लेखक लिखता है—

"युद्ध में हारकर भी कटोच-वंशीय संसारचन्द जालन्धर सूबा के सर्वश्रेष्ठ राजा की हैसियत से पहाड़ी राजाओं के अभिषेक प्रतिष्ठापन का दावा करते थे। इस दावे के स्वीकार न करने पर अजीतसिंह के विरुद्ध उन्होंने किशनसिंह की सहायता के लिए एक फौज भेजी। पहला वार खाली गया, दूसरा, मंडी राजा की मदद से, सफल होने पर ही था जबकि मंडी राजा लाहौर दरबार के आदेश पर किशनसिंह का पक्ष त्यागकर दूसरे पक्ष से जा मिले। किशनसिंह अपनी फौज के साथ बन्दी हो गये। कटोच सेना के सिपाही नंगे बनाकर छोड़ दिये गये और इस अपमान की दशा में पहाड़ों की राह से अपने-अपने घर को वापस आये।"

निष्कर्ष यह कि अपने ग़लत व्यवहार के कारण संसारचन्द की शक्ति उत्तरोत्तर क्षीण होती गई और रणजीतसिंह का प्रभाव पहाड़ी राजाओं के बीच बढ़ता गया।

महाराज संसारचन्द की सेना उनकी एक मूर्खतापूर्ण कार्रवाई से भी क्रमशः कमज़ोर होती जा रही थी। उन्होंने कुछ दिन पहले रामपुर के गद्दी से उतारे हुए नवाब ग़ुलाम मुहम्मद की, जो उनके यहाँ शरणापन्न थे, राय

से अपनी फौज के पुराने सिपाहियों को जो राजा घमंडचन्द के समय से एक खास तनख्वाह पर नौकरी करते आये थे, बरख्वास्त कर दिया चूंकि गुलाम-मुहम्मद ने उन्हें कम वेतन पर रूहेले सिपाही मंगा देने का वादा किया। इन बरख्वास्त किये गए सिपाहियों में रूहेले, अफगान, राजपूत वे सैनिक थे जिन्होंने दिल्ली में फौजी शिक्षा पाई थी। इनके यकायक फौज से हट जाने के परिणामस्वरूप महाराज संसारचन्द की सैनिक शक्ति क्षीण हो गई। गुर्खों को जब इस परिस्थिति का पता लगा तो वे फौरन, १८०५ में, सुलह की शर्तें तोड़कर, कांगड़े पर चढ़ आये। अमरसिंह थापा ने ४०,००० सैनिक लेकर बिलासपुर तथा जिउरी (सुकेत) के पास सुतलज नदी को पार किया; विभिन्न पहाड़ी राज्यों की सेनाएँ जो संख्या में लगभग दस हजार थीं, उससे जा मिलीं। भीने (Vigne) लिखता है—**"इन सभी राजाओं ने गुर्खों के सेनाध्यक्ष के प्रति वफादारी की शपथ ली, इस आश्वासन पर कि वह कांगड़े के किले को अपने अधिकार में रखेगा और इनके ऊपर गुर्खों द्वारा किसी प्रकार की ज्यादती न होगी।"** चंबा में उपर्युक्त बातों का समर्थन करने वाले अनेकों पत्र प्राप्त हुए हैं। इन पत्रों में जो चंबा के राजा के नाम अमरसिंह थापा के लिखे हुए हैं, फौजी खर्च के लिए रुपये भेजने का, और बातों के साथ-साथ, वादा भी है। संसारचन्द के राज्य का इनमें उल्लेख 'त्रिगध' राज्य के नाम से किया गया है।

गुर्खों के साथ संसारचन्द की पहली मुठभेड़ महल मोरियन में हुई पर गुलाब मुहम्मद के लाये हुए नये सिपाहियों के पहुँच जाने के बावजूद भी, वे सफल न हो सके। गुर्खे आगे की ओर बढ़े और नदौन पहुँचकर मंडी के राजा को, जिन्हें संसारचन्द ने बारह बरसों से कैद में रख छोड़ा था, जेलखाने से मुक्त किया। संसारचन्द को अन्त में विवश होकर किले में शरण लेनी पड़ी, किन्तु किले का संग्रहीत अन्न का भंडार फिजूलखर्ची के कारण क्षीण हो चुका था; गुलेर के राजा जो कटोच-वंश के संसारचन्द के नजदीकी सम्बन्धियों में थे, गुर्खों से जा मिले थे, अतः गुलेर से खाद्यान्न का आयात बन्द था, फिर भी, चार वर्षों तक घेरा डालकर भी गुर्खे किले पर अधिकार न कर सके। पर इन चार वर्षों में उन्होंने कांगड़े को तहस-नहस कर डाला। उनके उत्पीड़न से लोग घर छोड़-छोड़कर अन्यत्र भाग गये,

खेत बेग्राबाद पड़े रहे, शहरों में दिन-दहाड़े जंगली पशु विचरने लगे, उनकी दशा उस उजड़ी हुई ग्रयोध्या की हुई जिसका वर्णन महाकवि कालिदास ने इस प्रकार किया है—

निशाकाल में पहले जिन रास्तों पर चमकीले नूपुरोंवाली ग्रभिसारिकाएँ चला करती थीं, उन पर अब सियारिनें विचरती हैं जिनके मुख से चिल्लाते समय चिनगारियाँ वहिगत होती हैं, अर्थात् स्वर्ण-नूपुरों के स्थान पर अब उनके मुख की चिनगारियाँ चमक पाती हैं। बार्नस ने कांगड़े की इस दुरावस्था की चर्चा करते हुए लिखा है—

"इन अभागे दिनों की स्मृति पहाड़ों के इतिहास में एक सीमा-चिह्न के समान है···देश का कुछ हिस्सा तो उनके—गुर्खों के—ग्रधिकार में था, कुछ, जिसमें कांगड़े का दुर्ग ग्रौर ग्रन्य कुछ क़िले शामिल थे, कटोचों के। एक दल दूसरे दल के अधिकारगत इलाके पर इसलिए लूटपाट मचाता था कि वह उसके साधनों को कमज़ोर कर दे। जनता ग्राक्रान्त एवं किंकर्तव्यविमूढ़ होकर ग्रड़ोस-पड़ोस के राज्यों में भाग गयी, कुछ चंबा में, कुछ जलन्धर दोआबा में।···तीन बरसों तक अराजकता की यह स्थिति बनी रही। कांगड़े की इस ऊर्वर घाटी में फसल का एक पत्ता तक न पैदा हुग्रा, शहरों में घास जम ग्राई तथा नदौन की सड़कों पर सिंहनियों के बच्चे पैदा होने लगे।"

इधर क़िले का घेरा उत्तरोत्तर गहन होता गया। संसारचन्द तथा उनकी पलटन बगैर ग्रन्न के प्रायः चार महीनों तक घास पर बसर करती रही। ग्रंत में निरुपाय होकर उन्हें महाराजा रणजीतसिंह से मदद माँगनी पड़ी। कांगड़े के क़िले को उन्होंने गिरोहर रखा। कहते हैं, दो बार महाराजा रणजीतसिंह ने कांगड़े के लिए प्रस्थान किया पर कुछ सोचकर रास्ते ही से लौट गये। महाराज संसारचन्द ने तब दूसरा कोई उपाय न देखकर गुर्खों के साथ सुलह की चर्चा चलाई। कहा, 'यदि मुझे सपरिवार क़िले से वे बाहर जाने दें तो मैं ग्रपनी सेना को ग्रादेश दूँगा कि वह हथियार डाल दे।' गुर्खों ने कहा—'महाराज यदि मालकारा की देवी के समक्ष निष्कपटता की शपथ लें तो हमें उनकी इस बात पर विश्वास हो सकता है।' संसारचन्द स्वयं तो नहीं गये, पर ग्रपने वज़ीर नौरंगराय को शपथ लेने को भेजा ग्रौर तब गुर्खे सिपाही फाटक से हटा लिए गये।

संसारचन्द ने गुर्खों की आँखों में धूल झोंकी। दिन भर वह इस फाटक से तरह-तरह की चीज़ें अमरसिंह थापा के पास भेजते रहते, रात में आवश्यक वस्तुएँ--अनाज, अस्त्र-शस्त्रादि—भीतर मँगा लिया करते थे। फिर एक दिन साधारण किसान के वेश में सपरिवार फाटक से होकर वह बाहर निकलकर तीरा-सुजानपुर चले आये। और फिर, तीसरी बार, उन्होंने महाराजा रणजीतसिंह से सहायता की याचना की। १८०९ के मई महीने में रणजीतसिंह ने लाहौर से प्रस्थान किया। और तब गुर्खों के साथ जो समझौते की बातचीत चल रही थी उसे छोड़ दी। तब तक पहाड़ के विभिन्न राजे भी अमरसिंह थापा का साथ त्याग चुके थे तथा उसके रास्ते में रोड़े अटका रहे थे कि वह देश छोड़कर चला जाय।

संसारचन्द तथा रणजीतसिंह के बीच पूरे एक महीने तक बातें चलती रहीं। रणजीतसिंह चाहते थे कि गुर्खों के भगाने के पहले ही क़िले को उनके हवाले कर दिया जाय, संसारचन्द को यह स्वीकार नहीं था। अंत में चंबा के वजीर नाथू तथा गुलेर के राजा ने बीच में पड़कर समझौता कराया और दोनों ज्वालामुखी के मंदिर में मिले। भीने (Vigne) का कहना है कि संधि-पत्र पर खून से हस्ताक्षर किये गये तथा महाराजा रणजीतसिंह ने ज्वालामुखी के पवित्र दीप पर हाथ रखकर वादा किया कि वह संसारचंद की किसी प्रकार की बुराई न करेंगे।

रणजीतसिंह ने तब तीरा-सुजानपुर से संसारचन्द के पुत्र अनिरुद्धचंद को बुलवा भेजा। आने पर उनका पूरा सम्मान किया पर उन्हें फतहसिंह अहलुवालिया के साथ बतौर शरीरबन्धक के रख छोड़ा। फिर अगस्त, १८०९ में उन्होंने गुर्खों पर धावा बोलकर लड़ाई का एलान कर दिया। गुर्खों की शक्ति क्षीण हो चुकी हुई थी—वे सुतलज की दूसरी ओर भाग गये। कहते हैं महाराजा रणजीतसिंह ने गुर्खों के साथ भी भीतर-भीतर मेल-मिलाप की बातें की थीं, उनसे कहा था, कि वे यदि साथ दें तो दोनों मिलकर संसारचन्द को परास्त करें तथा क़िला गुर्खों के हवाले करके रणजीतसिंह लाहौर लौट जायें। अमरसिंह ने इसे स्वीकार भी कर लिया था पर जब उसने देखा कि इस समझौते के विरुद्ध रणजीतसिंह संसारचन्द से जा मिले और क़िले को अपने अधिकार में कर लिया तो वह यह कहता हुआ कि मुझे धोखा दिया

गया, सुतलज की ओर चला गया। इसके प्रायः छः वर्षों के भीतर-भीतर अंग्रेजों से प्रथम गुर्खा-युद्ध में पराजित होकर उसे अपने देश को लौट जाना पड़ा। इस युद्ध में (१८१४-१५ में) अंग्रेजों ने संसारचन्द से गुर्खों के विरुद्ध सहायता की याचना की थी। इससे पूर्व भी लार्ड लेक ने संसारचन्द से चिट्ठी-पत्री करके पंजाब संबंधी अपने लक्ष्य की पूर्ति में उनसे मदद चाही थी। यही नहीं, इन पत्रों से यह साफ-साफ परिलक्षित है कि अंग्रेज संसारचन्द को रणजीतसिंह के बराबर का मानते थे, अधीनस्थ का नहीं।

गुर्खों को परास्त करके रणजीतसिंह ने कांगड़े के नगर में प्रवेश किया तथा संसारचंद की सम्मति से अपने सेनाध्यक्ष फतहसिंह और अनिरुद्धसिंह को क़िला लेने के लिए भेजा। वज़ीर नौरंगराय ने, जिनके ऊपर क़िले का भार था, यह कहकर कि मैं सिवाय महाराज संसारचन्द के किसी और को क़िला न दूंगा, क़िला समर्पण करने से इन्कार कर दिया। महाराजा रणजीतसिंह ने संसारचन्द से कहा, कि यदि वे अनिरुद्धसिंह का भला चाहते हैं तो स्वयं क़िले में जायँ और उसे दिलवा दें वर्ना अनिरुद्धसिंह को जो उनके शरीरबन्धक थे, इसके लिए सजा भुगतनी पड़ेगी। फिर संसारचन्द तथा रणजीतसिंह हाथी पर सवार होकर साथ-साथ, क़िले के फाटक पर आये जहाँ नौरंगराय का दूत यह प्रस्ताव लाया कि महाराज संसारचन्द अकेले ही क़िले में प्रवेश करें। ऐसा ही हुआ। संसारचन्द ने फतहसिंह के साथ क़िले में प्रवेश किया। नौरंगराय ने तब महाराज से लिखित आज्ञा ली कि वह क़िला-समर्पण कर दें। संसारचन्द आज्ञा देकर नौरंगराय को हाथ से पकड़ क़िले से बाहर ले आये और तब महाराजा रणजीतसिंह ने अपने कुछ आदमियों के साथ क़िले में पदार्पण किया। क़िला उनके अधिकार में आ गया। संसारचन्द ने पहले तो कई हीले-हवाले किये पर अंत में विवश और निरुपाय होकर उन्हें क़िला रणजीतसिंह के हाथों सौंप देना पड़ा। पूर्वजों की सुकृति को उनके हवाले करके संसारचन्द ने विष का घूंट पी लिया!

W. A. Campbell का कहना है कि क़िला सिख सेना के अधिकार में लड़ाई शुरू होने के पहले ही आ गया था, वह लिखता है—

But Ranjit Singh had a game of his own to play. When he arrived outside the walls of Kangra fort, he demanded

permission to garrison it, alleging that with it as a base of operation he could act with vigour against the foe. Sansar Chand wished the foe to be dispersed first and then promised its rendition. Ranjit Singh was warned by his chief to beware of treachery, and pretending to suspect it, he had Inrodh and other sons of Sansar Chand arrested. The astonished and terrified Sansar Chand ordered the garrison, by a letter delivered to Sardar Fateh Singh Ahluwalia and Jodh Singh Ramgarhia, to open its gate to the army of Lahore. It gave a great joy to Ranjit Singh, who found an impregnable fort in his possession without suffering any loss.

सारांश यह कि महाराजा रणजीतसिंह ने क़िले के पास पहुँचते ही अपनी फौज अन्दर स्थापित करने की इजाजत चाही, चूँकि ऐसा करने से, उन्होंने सोचा, दुश्मन के विरुद्ध कारंवाई करने में सुविधा होगी। संसार-चन्द चकित और भयभीत हुए पर जब रणजीतसिंह ने उनके पुत्र अनिरुद्ध को गिरफ्तार करके शरीरबन्धक बना लिया तो विवश होकर उन्हें क़िले के द्वार खुलवा देने पड़े। सिख सेना अन्दर दाखिल हुई तथा इस अजेय क़िले को इतना आसानी से पाकर महाराजा रणजीतसिंह के आनन्द का कोई ठिकाना न रहा।

कैम्पबेल का यह भी कहना है कि रणजीतसिंह ने पहाड़ी राजाओं को २५,००० सेना के साथ दूसरी ओर से शत्रु के विरुद्ध भेजकर स्वयं गणेश घाटी—जहाँ क़िले से आध मील दूर शत्रु सेना का पड़ाव था—को घेरकर उसके भीतर, १२,००० घुड़सवार और १०,००० पैदल सेना लेकर, घुस पड़े थे।

अमरसिंह थापा भी बड़ा कुशल योद्धा था; पहाड़ी राजाओं पर वह सेना लेकर टूट पड़ा। दोरा में दोनों सेनाएँ आमने-सामने युद्ध के लिए खड़ी थीं जब रणजीतसिंह ने अपनी पलटन का एक मज़बूत जस्ता राजाओं की मदद में भेजा। संगीन युद्ध हुआ पर अंत में गुर्खों को हार खानी पड़ी।

रणजीतसिंह ने तब अमरसिंह थापा के पास संवाद भेजा कि वह उन्हें ससैन्य सुरक्षापूर्वक लौटने देंगे यदि वह कांगड़े से अपनी फौज फौरन हटा लें। अमरसिंह ने कहा—बगैर राजा गोरख की आज्ञा के मैं कुछ न करूँगा, आप जैसा चाहें, करें। उत्तर पाते ही रणजीतसिंह अपनी सेना को गुर्खों के, जिन्हें पहाड़ के सभी राजा तब तक छोड़ चुके हुए थे, खिलाफ आगे बढ़ने का आदेश दिया। अमरसिंह ने तब यह प्रस्ताव भेजा कि यदि मुझे निर्विघ्न यहाँ से जाने दिया जाय, तथा कुछ ऊँट और ५०० कुली सामान ढोने के लिए दिये जायँ तो मैं यह इलाका छोड़ दूंगा। रणजीतसिंह ने इसे मंजूर कर लिया और फतहसिंह तथा हिम्मतसिंह को आदेश दिया कि वे उसे सरहद से बाहर सुरक्षापूर्वक पहुँचा आयें। अमरसिंह ने मंडी तथा खलोरिया के राजाओं से शरण-याचना की पर वह काँगड़े से दस मील भी न गया होगा कि कुछ पहाड़ के आदिम निवासी उस पर टूट पड़े और उसके सामानों को लूट लिया। रणजीतसिंह के पास जब इसकी नालिश आयी तो उन्होंने उस इलाके के ज़मींदारों को कहा कि वे लूटा हुआ माल बरामद करादें और खोये हुए के लिए क्षतिपूर्ति करें। उन्होंने कुछ हद तक इस आदेश का पालन किया। इसके बाद कांगड़े की आबोहवा उनके स्वास्थ्य के अनुकूल न होने के कारण रणजीतसिंह शीघ्र ही कांगड़े से वापस हो चले, पर बहारसिंह मान को कांगड़े की देख-रेख के लिए नियुक्त करके वहाँ छोड़ते गये।

संसारचन्द को उन्होंने लिखा हुआ आश्वासन दिया कि वे उनके राज्य परहाथ न डालेंगे, बदले में केवल क़िला और उसके साथ के कांगड़ा घाटी के ६६ गाँव रणजीतसिंह ने अपने पास रखे। मुग़ल काल से ही ये गाँव क़िले के साथ सम्बद्ध थे।

गुर्खों का कांगड़ा-प्रवेश इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है तथा तवारीख की अनेकों प्राचीन पुस्तकों में इसका जिक्र आया है।

सूबा जयकिशन उपाध्याय ने 'काज़ी अमरसिंह थापा की जीतों का वर्णन' नामक अपने ग्रंथ में इसका उल्लेख इस प्रकार किया है:

"सन् १८०५ ई०—इस वर्ष काज़ी अमरसिंह को नेपाल के राजा से हुक्म मिला कि वह कांगड़े की ओर बढ़े। काज़ी ने घमंड थापा को ५०० सिपाहियों के साथ मलौन, चम्बा तथा सूरजगढ़ के क़िलों के लिए छोड़ स्वयं

अपनी और राजा महान्चन्द की फौजें लेकर कांगड़ा-दुर्ग-विजय के निमित्त सुतलज पार किया। महलमोरी में छावनी डाली। १८०६ के वैशाख महीने में राजा संसारचन्द की फौज, जिसकी सदारत गुलाम मुहम्मद खां और जोगराज वज़ीर कर रहे थे, तथा राजा रामसिंह, नालागढ़ और रामनगर की फौजों के साथ उसकी मुठभेड़ हुई। काज़ी ने पीछे हटकर अपना अड्डा घम्बर नदी के तट पर जमाया। इसके बाद ही उसने सुना कि राजा संसारचन्द ने हार खायी है, जोगराज वज़ीर को पीछे हटना पड़ा है तथा रामसिंह भाग खड़ा हुआ है। इससे उत्साहित होकर काज़ी ने फिर एक बार सुतलज पार करके बरनहट्टी में कांगड़ा-दुर्ग पर विजय प्राप्त करने के इरादे से पड़ाव डाला। कांगड़े की ओर से निगाहीचन्द के नेतृत्व में फौज उनसे लड़ने आई। जून १८०६ ई० को दोनों फौजों के बीच लड़ाई हुई जिसमें निगाहीचन्द मारे गये तथा उनकी फौज भाग खड़ी हुई। निरन्तर चलते हुए काज़ी व्यास नदी के तट पर नदौन के करीब आ पहुंचा। राजा संसारचन्द नदौन त्याग कर तेहरा चले गये। काज़ी नदौन से आगे की ओर बढ़ता हुआ ज्वालामुखी आया। ज्वालामुखी में उसे नेपाल के राजा रणबहादुर के मरने का संवाद मिला। शोक में वह ग्यारह दिनों तक ज्वालामुखी में ही ठहरा रहा। यहाँ इस इलाके के—गुलेर, नूरपुर, चम्बा, सुकेत, कटलेहर, जसवन आदि के—राजा उससे मिले। उसने राजाओं को घर वापस किया तथा स्वयं उनकी फौजों के साथ जुलाई, १८०६ में कांगड़े आ धमका। क़िले पर उसने घेरा डाल दिया। तब तक—प्राय: दो बरसों तक—घेरा पड़ा रहा जब तक कि संसारचन्द के अनुरोध पर महाराजा रणजीतसिंह की सेना गुर्खों के विरुद्ध, अगस्त १८०९ में वहाँ आ न पहुँची। तीन मास तक दोनों फौजों के बीच युद्ध होता रहा। अन्ततोगत्वा महाराजा रणजीतसिंह की फौज का मुकाबला करने में असमर्थ काज़ी ने उनके साथ सन्धि की चर्चा छेड़ी। सुतलज दोनों के बीच की सीमा मानी गयी और वह वहाँ से चलता बना।"

अमरसिंह थापा के हमले का जिक्र 'उमदात-उत-तवारीख' नामक इतिहास-ग्रंथ में और भी अधिक विस्तार से है। संक्षेप में वह इस प्रकार है—

"राजा संसारचन्द के भाई मियां फतहचन्द उपहार में कुछ घोड़े लेकर आये तथा सरकार—यानी महाराजा रणजीतसिंह—से अर्ज किया कि

यदि वे गुर्खों को कांगड़े से मार भगाने में सहायता करें तो इसके बदले में वे उन्हें काफी शुल्क प्रदान करेंगे। सरकार ने उन्हें आश्वासन दिया कि वे गुर्खों के निकालने में उनकी मदद करेंगे और उनसे कहा कि वे विस्तारपूर्वक वास्तविक परिस्थिति उन्हें बतायें। फतहचन्द ने उत्तर दिया कि अमरसिंह नामक एक प्रमुख गुर्खा सरदार कोट-कांगड़ा के पड़ोस में ठहरा हुआ है तथा कांगड़े के किले पर हमला करने की सोच रहा है। इसी उद्देश्य से काजी नैनसुख नामक उसके एक सरदार ने सिपाहियों के साथ क़िले के बाहरी हिस्से पर आक्रमण भी किया था पर क़िले के राजपूत सिपाहियों ने जान पर खेल कर उसका मुकाबला किया और वह मारा गया। इस पर क्रोधापन्न होकर अमरसिंह ने जोरों से क़िले पर हमला किया पर असफल रहा। क़िला अत्यन्त मजबूत है, तोप की गोलियाँ उसकी दीवारों का कुछ बिगाड़ नहीं सकतीं, आसानी से क़िला फतह नहीं किया जा सकता है। इसलिए गुर्खे कई बरसों तक घेरा डाल रखने की सोच रहे हैं। राजा संसारचन्द सफलतापूर्वक उनके साथ लड़ने में असमर्थ होकर क़िले में जा बैठे हैं। वह सरकार की मदद चाहते हैं जिसके लिए वह उचित कर देने को तैयार हैं।

सरकार ने फतहचन्द की अर्ज़ पर ग़ौर फर्माया, फिर पटियाला, नाभा, जगरांव, नकोकर, बंगा और नवाशहर के राजाओं से कर वसूल करते हुए वह बजवारा आये। उनका उद्देश्य कांगड़ा के पहाड़ी इलाके की ओर जाने का था। इसी बीच अमरसिंह थापा का एक वकील उनसे आकर मिला और कहा कि यदि वे संसारचंद की मदद न करें तो अमरसिंह कई लाख रुपये बतौर कर के पेश करेंगे। सरकार ने इसका कोई निश्चित उत्तर नहीं दिया और एक बड़ी पलटन के साथ वह ज्वालामुखी चले आये। पहाड़ी सभी राजाओं को खानगी तौर पर यह आदेश भेजा गया कि वे गुर्खा सरदार की क़तई सहायता न करें। अमरसिंह थापा के पास खबर भेजी गयी कि वह यदि सरकार की सहानुभूति चाहते हैं तो उस इलाके से बाहर चले जायें। अगर वह बात न मानेंगे तो युद्ध शुरू कर दिया जायगा। अमरसिंह सरकार की महती सेना को देख-देखकर, भयभीत होकर, कांगड़े के क़िले से पंद्रह-बीस कोस दूर, सुकेत मंडी की ओर, कुमाऊँ तथा श्रीनगर (गढ़वाल) के रास्ते पर जा ठहरा। इधर राजा संसारचन्द कुछ खास घोड़ों तथा ३०००रुपयों

को बतौर कर के साथ लेकर सरकार के पास आये तथा उनसे मैत्री की याचना[1] की।"

'उमदात-उत-तवारीख' का लेखक रणजीतसिंह की सेना का जिक्र करता हुआ आगे लिखता है—

"सरकार ने स्वयं फौज का निरीक्षण किया जिसमें एक लाख पैदल सिपाही तथा अश्वारोही सैनिक थे। १२,००० सवार तथा पैदल सिपाहियों की तीन टोलियाँ तीन ओर नियुक्त कर दी गयीं। सरकार ने खुद 'गणेश घाटी' (जहाँ गुर्खे ठहरे हुए थे) के समीप एक ऊँचे पहाड़ पर डेरा डाला। पहाड़ी राजाओं की फौज जिनमें कुल २५,००० घुड़सवार और पैदल सैनिक थे, उक्त घाटी के समीप रखी गयी और तब ज्योतिषियों के बताये हुए एक शुभ दिन पर सरकार ने क़िले में प्रवेश किया। इस उपलक्ष में नगाड़े बजाये गये, दुन्दुभी की ध्वनि विस्तारित हुई। शहर और क़िले के बीच 'पुरनियों' के घर थे; इनमें करीब दो सौ गुर्खे ठहरे हुए थे। इनके पास बन्दूकें थीं। सरकार ने इन पर गोली दागने का हुक्म दिया। बदले में उन्होंने भी गोलियाँ चलायीं जिससे तीन-चार सिख हत हुए। पर उनके इस पड़ाव को घेर लिया गया तथा भगवद् कृपा से इसके करीब दो सौ आदमी मौत की घाट उतार दिये गये। फिर सरकार के आदेश पर पहाड़ी राजाओं ने गणेश घाटी पर हमला किया। गुर्खों ने बिजली की तरह गोलियों से जवाब दिया, वे लड़े, पर कामयाब न हुए। अमरसिंह के पास, जिसने किले पर घेरा डाल रखा था—एक फकीर, अज़ीज़ुद्दीन रज़ा अंसारी, की मार्फत सरकार ने संवाद भिजवाया कि वह लड़ाई से बाज आये वर्ना इसका परिणाम उसके लिए बुरा होगा। पहले तो वह हीला-हवाला करता रहा पर अन्त में तोपों के भय से राजी हुआ, बोला—मुझे यदि यहाँ से सुरक्षापूर्वक बाहर जाने दिया जाय तथा सामान ढोने के लिए चार-पाँच सौ कुली मिलें तो मैं चला जाऊँ। ऐसा ही हुआ पर रास्ते में जब वह कांगड़े से पथियार के क़िले की ओर जा रहा था, लोगों ने उसके सामान को बुरी तरह लूट-खसोट लिया। कई बहाने

१. ज्वालामुखी की पवित्र दीप-शिखा पर हाथ रखकर दोनों ने मैत्री की शपथ ली पर दोनों के दिल में चोर था उनमें से कोई भी उसे पूरा करने का इरादा नहीं रखता था।

करके वह अभी उसी इलाके में—पथियार में—रहना चाहता था पर सरकार को यह कतई मंजूर न हुआ और वे स्वयं पथियार जा पहुँचे। अमरसिंह तब मंडी की ओर गया, पर सरकार का कड़ा रुख देखकर वह वहाँ से भी चलता बना।"

क़िले के महाराजा रणजीतसिंह के अधिकार में चले जाने के बाद से कांगड़ा राज्य, जलन्धर दोआबा के बाकी राज्य भी, सिखों के आधिपत्य के अन्दर आ गये। महाराज संसारचन्द ने जीवन के शेष दिन तीरा-सुजानपुर में बिताये। साल में एक बार उन्हें लाहौर-दरबार में उपस्थित होना पड़ता था जो उनके लिए विष की घूंट के समान था, पर कोई चारा नहीं था। दरबार में, रणजीतसिंह उनका यथोचित सम्मान करते थे साथ-साथ मज़ाकें भी उड़ाते थे। कहते हैं एक बार दरबार में बैठे हुए महाराज संसारचन्द ने जम्हाई ली। महाराजा रणजीतसिंह ने इस पर मज़ाक करते हुए पूछा—**"लाहौर परापत ?"** संसारचन्द ने जवाब दिया—**"जो हुआ सो परापत!"** अर्थात् जो कुछ हुआ वही लाभ है।

मि० मूरक्राफ्ट नामक एक यूरोपियन यात्री ने उन्हीं दिनों कांगड़े की यात्रा की थी। अपने संस्मरणों में उसने महाराज संसारचन्द का सहानुभूतिपूर्ण चित्र खींचा है। उसका कहना है कि यद्यपि उस समय महाराज की उम्र केवल ५४ साल की थी पर दुर्भाग्य ने उनके चेहरे तथा स्वभाव को फीका कर दिया था। उन्होंने मूरक्राफ्ट से उन अपमानों की चर्चा की जो रणजीतसिंह से उन दिनों उन्हें मिल रहे थे जिससे यह साफ परिलक्षित है कि आगे चल कर महाराजा रणजीतसिंह के व्यवहारों में फर्क आ गया था।

संसारचन्द ने उसे यह भी बताया कि आय के कम हो जाने के कारण वह किस दिक्कत के साथ अपने काम चला रहे हैं। मूरक्राफ्ट ने महाराज संसारचन्द सम्बन्धी बातों के सिलसिले में उनके राज्य की बची-खुची परिधि का भी उल्लेख किया है जिससे मालूम होता है, कि वह लम्बाई में उत्तर से दक्षिण चालीस कोस तथा चौड़ाई में पूर्व से पश्चिम १५ से ४० कोस के अन्दर-अन्दर थी। इसके पूर्व में मंडी और सुकेत, दक्षिण में कहालुर तथा जसवा-घाटी, जसवा का कुछ हिस्सा, सिबा और गूलू पश्चिम में कूलू और चम्बा उत्तर में थे। हिमालय के हिममंडित शिखर और इसके बीच

मंडी, सुकेत, चम्बा और कूलू के राज्य पड़ते थे। फिर भी, यह पहाड़ के करीब ही पड़ता था तथा इसकी काफी ऊँचाई थी। इसके कई भाग जुलाई के महीने में भी बर्फ से आच्छादित थे।

सुजानपुर-तीरा और नदौन व्यास नदी के तट पर थे। कोट-कांगड़ा खोकर वे तीरा-सुजानपुर के अपने सुन्दर किले में निवास करते रहे जो शहर की एक ओर पड़ता था—दूसरी ओर व्यास नदी—पर आगे चलकर उन्हें यह भी छोड़ना पड़ा। कहते हैं, एक बार कोई ब्राह्मण उनके पास आया और धन की याचना की जिसकी वे पूर्ति न कर सके। ब्राह्मण ने छाती में कटार मारकर आत्महत्या कर ली। उसके बाद वे जब भी खाने बैठते उनका भोजन रक्त से भर उठता था। अन्त में विवश होकर वे तीरा-सुजानपुर त्याग कर कांगड़ा और तीरा के बीचों-बीच नदौन नामक स्थान में चले आये जो किसी जमाने में कांगड़ा राज्य के अन्तर्गत एक छोटे-से राज्य की राजधानी थी।

नदौन आने के बाद महाराज संसारचन्द की रानी ने, जिस पहाड़ पर किला बना हुआ है उसकी जड़ पर एक मंदिर बनवाया जो नर्मदेश्वर के नाम से विख्यात है और शायद १८२३ में बना था। मंदिर की सारी दीवारें और छत चित्रित हैं। इन चित्रों में प्रौढ़ता है तथा महाराज संसारचन्द द्वारा कांगड़ा-शैली में जिस उच्च-स्तर का प्रवेश हुआ था, उसकी झलक है। ये यह भी प्रमाणित करते हैं कि कांगड़ा की कलम का उपयोग उनके संरक्षण में लघु चित्रों—व्यक्ति चित्रादि—के अंकण के साथ-साथ बड़े पैमाने पर अंकित होने वाले भीत्ति चित्र आदि के लिए भी होने लगा था।

१८२३ के दिसम्बर में महाराज संसारचन्द ने शरीर छोड़ा। श्री हचीसन एवं भोगल के शब्दों में कई दृष्टियों से वह एक अद्‌भुत पुरुष थे··· और उनका नाम आज भी कांगड़े के घर-घर में लिया जाता है। उनके शासन-काल में कटोचों का यह प्राचीन राज्य शक्ति तथा कीर्ति के उच्चतम शिखर पर पहुँच गया।···बीस वर्षों तक वह पहाड़ी प्रदेश के प्रधान बने रहे, महाराजा रणजीतसिंह तक[1] के सबल प्रतिद्वन्द्वी, पर असीमित स्पर्द्धा उनके विनाश का

१. History of the Punjab के लेखक (सैयद लतीफ १८६१) ने लिखा है—

कारण बनी। उनके साथ-साथ ही कटोचों की शक्ति भी सदा के लिए सो गई। उनके पुत्र के पास जो बच रहा वह नाम के लिए ही, राज्य कहलाने की उसमें क्षमता नहीं रही।

महाराज संसारचन्द के शासक जीवन को हम तीन हिस्सों में बाँट सकते हैं—पहला वह जिसका आरम्भ १७७४ से होता है जब कि उन्होंने जयसिंह कन्हैया की मदद से कोट-कांगड़ा लेने का प्रथम प्रयत्न किया पर जिस उद्योग में वह सफल होकर भी किले को जयसिंह के छल के कारण अपने अधिकार में न ला सके।

दूसरे का आरम्भ तब से होता है जब किले को वह जयसिंह के हाथों से छुड़ा पाये। जयसिंह को हराकर उन्होंने पूर्ण स्वातन्त्र्य प्राप्त किया। जलन्धर सूबा के अन्तर्गत जितने पहाड़ी राज्य थे उन पर अपना आधिपत्य स्थापित करने की चेष्टा की। यमुना से रावी तक के क्षेत्र पर अपना प्रभुत्व जमाना चाहा जैसा कि किसी ज़माने में उनके पूर्वजों का था भी। इस उद्देश्य में वह सफल भी हुए और बीस वर्षों तक पहाड़ के इस इलाके पर उनका एक-छत्र शासन चलता रहा।

उनके जीवन का तीसरा अध्याय तब से शुरू होता है जब उनके शासन से असन्तुष्ट होकर पहाड़ी राजे एक दल बनाते हैं तथा गुर्खों को उनके खिलाफ आमंत्रित करते हैं। गुर्खों के साथ लड़ने में वे महाराजा रणजीतसिंह की सहायता लेते हैं पर अन्त में रणजीतसिंह की शक्ति उन्हें निगल जाती है और वे जीवनके आखिरी दिन लाहौर सरकार के अधीन होकर बिताते हैं। यही समय था जब मूरक्राफ्ट अपनी काश्मीर-यात्रा के सिलसिले में उनसे मिला था। मूरक्राफ्ट का उल्लेख पहले भी किया जा चुका है। कश्मीर जाते हुए उसने महाराज संसारचन्द का कई दिनों तक आतिथ्य ग्रहण किया।

"उस वर्ष दो विख्यात पुरुषों ने जीवन-लीला संवरण की।...दूसरे प्रसिद्ध कटोच-वंशी संसारचन्द थे जिनकी शक्ति किसी समय स्वयं महाराजा रणजीतसिंह को भयभीत करती थी। संसारचन्द के मरने पर महाराजा रण-जीतसिंह ने अनिरुद्धचन्द से दो लाख रुपये उन्हें वारिस कबूल करने के लिए माँगे, पर वह एक लाख ही दे पाये।

अपने यात्रा-वृत्तान्त में उनकी चर्चा करते हुए वह लिखता है—

"शाम को मैं राजा की इच्छानुसार उनसे मिला। बाग के एक खुले हुए मकान में अपने पुत्र और पौत्र के साथ वे बैठे हुए थे। संसारचन्द कद में लम्बे हैं, उनके शरीर की बनावट सुघड़ है, उम्र करीब साठ साल की है। रंग उनका सांवला है, पर मुँह की बनावट सुन्दर और भावपूर्ण है। उनके पुत्र अनिरुद्धसिंह का चेहरा अत्यन्त सुन्दर है, उसके रंग में ललाई है। स्थूलकाय हैं वह। उनके दो पुत्र हैं जिनमें बड़े की उम्र बारह साल, छोटे की पाँच साल है, पर देखने में दोनों की गोराई उनसे कम है। कुछ वर्ष पहले तक संसारचन्द सुतलज से लेकर सिन्धु नदी तक के क्षेत्र के सबसे बलवान राजा थे; सुतलज से काश्मीर तक के राजा उनके अधीन थे, उन्हें कर देते थे। संसारचन्द की माली अवस्था बहुत ही अच्छी थी, ३५ लाख रुपयों की उनकी वार्षिक आय थी। अब वह गरीबी के साथ दिन काट रहे हैं···पर इसके लिए वह खुद ही जिम्मेदार हैं।"

आखिरी दफा जब अहमदशाह अब्दाली ने भारत पर आक्रमण किया, संसारचन्द के पितामह घमंडचन्द ही जलन्धर दोआबा के सैनिक शासक थे··· अफगानों ने इस राज्य को सदा के लिए उन्हें दे डाला, साथ-साथ कांगड़े का सरकारी हिस्सा भी। अपनी इस भू-सम्पत्ति की रक्षा के लिए घमंडचन्द ने ४,००० सिपाहियों की एक सेना-दल क़ायम की जिसमें अधिकांशतः रूहेले, अफगान और राजपूत सैनिक थे जो दिल्ली और अफगान सेनाओं से लिए गये थे। इनका वेतन उदार था; प्रत्येक पैदल सिपाही को पाँच रुपये और घुड़सवार को बीस रुपये, प्रति मास के दर से मिला करते थे।

घमण्डचन्द के पुत्र तेगचन्द ने इस सेना को कायम रखा तथा वेतन में वृद्धि तक की। संसारचन्द ने भी गद्दी पर बैठकर कुछ दिनों तक इस सिल-सिले को जारी रखा तथा इसकी वजह से पहाड़ के अन्य राजाओं पर वे अपनी सत्ता स्थापित करने में समर्थ हुए, गुर्खों के एक आक्रमण का सफलता-पूर्वक सामना भी किया जिसके फलस्वरूप गुर्खों के साथ सन्धि हुई, तदनुसार सुतलज दोनों की सीमा निर्धारित हुई।

इसके बाद का जिक्र करते हुए मूरक्राफ़्ट ने लिखा है, कि इसके बाद ही रामपुर की गद्दी से उतारे हुए नवाब गुलाम मुहम्मद ने महाराज संसारचन्द

के राज्य में शरण ली। उसने उन्हें राय दी, कि वह अपनी फौज के सिपाहियों को जो महंगे पड़ते थे, बर्खास्त कर दें और वह कम वेतन पर रूहेले लाकर उनकी फौज की पूर्ति कर देगा। बदकिस्मती के मारे हुए संसारचन्द ने उसकी राय मान ली तथा फौज के निपुण सिपाहियों को हटा डाला। गुर्खों को जब यह मालूम हुआ तो उन्होंने सन्धि-भंग करके पुनः कांगड़े पर हमला कर दिया। गुलाम मुहम्मद के लाये हुए सैनिक गुर्खों का मुकाबला करन में बिलकुल ही असमर्थ रहे, गुर्खों ने फलतः कांगड़ा-भूमि पर अधिकार करके 'नगरकोट' के क़िले पर घेरा डाल दिया। संसारचन्द अब दूसरा कोई उपाय न देखकर तीरा चले गये और वहीं से गुर्खों के खिलाफ लड़ते तथा किसी तरह क़िले के भीतर घिरी हुई अपनी फौज के पास खाना पहुँचाते रहे। गुर्खों के प्रभाव में आकर हरीपुर के राजा संसारचन्द का साथ छोड़कर उनसे जा मिले। क़िले के भीतर सामान पहुँचाने के लिए जो सबसे बड़ा ज़रिया था, वह जाता रहा। संसारचन्द के लिए हरीपुर के राजा का गुर्खों से जा मिलना एक बड़ी विपत्ति थी।

महाराज संसारचन्द किसी तरह क़िले के भीतर जा पहुँचे तथा अपने सैनिकों के साथ प्रायः चार महीनों तक शाक-सब्जी के पत्तों पर जीवन-निर्वाह करते रहे। अन्त में कोई दूसरा उपाय न देखकर जैसा कि पहले लिखा जा चुका है महाराजा रणजीतसिंह से सहायता माँगी। रणजीतसिंह ने मदद तो दी, गुर्खों को मार भगाया, पर इसके बदले में नगरकोट अपने अधिकार में कर लिया तथा संसारचन्द को विवश होकर उनका आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा। मूरक्राफ्ट लिखता है—

"राज्य खोकर तथा पहाड़ के अन्य राजाओं पर से, जिनसे उन्हें कर मिला करता था, प्रभुत्व के मिट जाने के कारण कटोच-राज की आय इतनी घट गयी है कि, जैसाकि संसारचन्द ने मुझे बताया, अब उन्हें साल भर के खर्चे के लिए केवल ७०,००० रु० उपलब्ध होते हैं। इसी से उन्हें अपना, अपने परिवार तथा फौज का भरण-पोषण करना पड़ता है। फिर भी उनका शासन अभी भी लोगों को मान्य है, वे शक्तिपूर्ण हैं, प्रजा दृढ़ और उनके प्रति वफादार है तथा उनके पास कीमती जवाहरातों का एक खासा भंडार शेष है।"

बकौल मूरक्राफ्ट के संसारचन्द का अन्तःपुर काफी बड़ा था तथा पदाधिकारियों की सूची खासी लम्बी थी। राजा संसारचन्द और उनके पुत्र ने मूरक्राफ्ट और उसके साथी की बड़ी आवभगत की। वहीं उनकी भेंट ओब्रायन नामक अंग्रेज़ से हुई जो पहले ईस्ट इंडिया कम्पनी की फौज में नौकर था पर जो एक दिन अपने अफसर को तमाचा मार कर भाग गया और संसारचन्द के पास आकर सैनिक शिक्षक के पद पर नियुक्त हो गया था।

मूरक्राफ्ट ने वहाँ कई दिन गुजारे। इस बीच की कई दिलचस्प घटनाओं का उसने उल्लेख किया है।

एक दिन उसके रहते-रहते संसारचन्द के भाई बीमार होकर बिस्तरे पर लौटने लगे। एक साधु ने घंटों मंत्र पढ़-पढ़कर प्रेत-बाधा दूर करने की चेष्टा की पर इसका कोई फल न हुआ। अंत में मूरक्राफ्ट की दवा ने मृगी रोग के इस आक्रमण को शांत किया। संसारचन्द और फतहचन्द इससे इतना प्रभावित हुए कि फतहचन्द ने अपनी पगड़ी से मूरक्राफ्ट का टोप बदला जिसका मतलब पारस्परिक सौहाद्र स्थापित करना था। यही नहीं, राजा संसारचन्द के द्वारा उसे कई प्रकार के पुरस्कार भी प्राप्त हुए।

कांगड़ा बटेरों के लिए मशहूर था। बटेर पकड़ने के तरीके का भी मूरक्राफ्ट ने बड़े रोचक ढंग से वर्णन किया है। ये बटेर लड़ाने के लिए पकड़े जाते थे। मुर्गों की तरह बटेर लड़ाने का भी तब बड़ा शौक था।

मूरक्राफ्ट के कथनानुसार कांगड़ा उन दिनों रेवत चीनी, पोस्ता, कपास, गेहूँ, चावल, बांस का जंगल, शहतूत और मधुमक्खी-पालन के लिए प्रसिद्ध था। कपड़े की बुनाई तथा रेशमी कपड़े की बुनाई—ये शायद इसी कारण से कांगड़ा के प्राचीन व्यवसायों में थे।

मूरक्राफ्ट आगे चलकर लिखता है—**"कांगड़ा से अधिकारच्युत होकर राजा अब अधिक वक्त सुजानपुर के पास आलमपुर में रहा करते हैं जो व्यास के बायें तट पर पड़ता है। यहीं के एक बाग में उनके रहने के छोटे-मोटे मकान बने हुए हैं जिनमें उनका दरबार भी होता है। जनानखाना एक बड़े मकान में है।"**

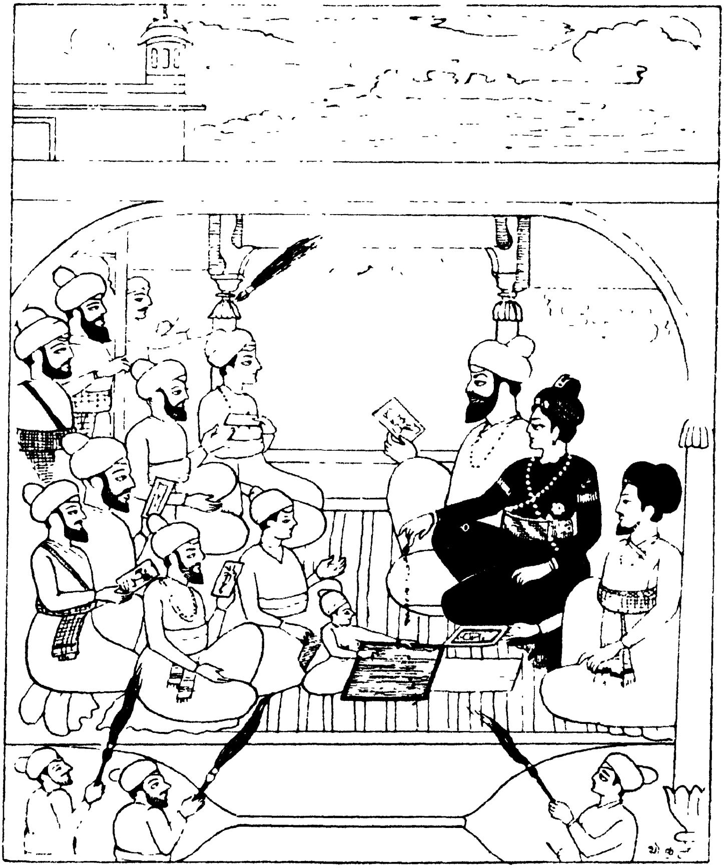
तीरा-सुजानपुर का उनका मकान बड़ा आलीशान था, पर महाराज रणजीतसिंह के कारण उन्हें इसे छोड़ना पड़ा था। घटना इस प्रकार है—

रणजीतसिंह ने सुना था कि राजा संसारचन्द का तीरा-सुजानपुर का राजमहल बड़ा सुन्दर है। एक दिन उन्होंने संसारचन्द से इसकी सत्यता के सम्बन्ध में पूछताछ करते हुए तीरा जाने की इच्छा प्रकट की। संसारचन्द नहीं चाहते थे कि वे वहाँ जायँ, इस भय से कि कहीं कोटकांगड़ा ही की तरह वहाँ भी वे अपना पाँव न जमा बैठें। उन्होंने कहा, कि तीरा का राजमहल किसी समय ऐसा अवश्य था पर अब ढहती हुई अवस्था में है। रणजीतसिंह को इस कथन पर विश्वास न हुआ और उन्होंने इसकी जाँच-पड़ताल के लिए दूत भेजा। संसारचन्द को इसकी सूचना पहले ही लग गयी, अतएव उन्होंने तत्क्षण कुछ आदमियों को भेजकर तीरा-सुजानपुर के अपने मकान के कुछ अंग तुड़वा डाले और उसे अधोगति की दशा का रूप दिलवा दिया। मूरक्राफ्ट ने जब इसे देखा था तब भी उसकी यही अवस्था थी।

आलमपुर में रहते संसारचंद अपना समय किस भाँति व्यतीत करते थे यह मूरक्राफ्ट के शब्दों में सुनें—

संसारचन्द दिन का आरम्भिक हिस्सा पूजा-पाठ में बिताते हैं, फिर १० से १२ बजे तक का समय अपने पदाधिकारियों और दरबारियों के साथ बातें करने में···दोपहर को दो या तीन घण्टे विश्राम करते हैं इसके उपरांत साधारणतः कुछ समय तक शतरंज खेलते हैं। शाम का समय गाने-बजाने और नाच में बिताते हैं जबकि गानेवाली वेश्या मुख्यतः कृष्ण-संबंधी ब्रजभाषा के गाने गाती हैं। संसारचन्द को चित्रों से शौक है तथा उनके दरबार में चित्रकारों का जमघट है। उनके पास चित्रों का बहुत बड़ा संग्रह भी है जिसका अधिक भाग कृष्ण और बलराम की लीलाओं से संबंधित है या अर्जुन के साहसिक कार्य अथवा महाभारत में उल्लिखित अन्य विषयों से है। पड़ोसी राजाओं और उनके पूर्वजों के चित्र भी इसमें शामिल हैं। संग्रह में सिकन्दर बादशाह के दो खाका-चित्र भी थे जिनमें से एक राय अनुरुद्धसिंह ने मुझे दिया···राजा यह न बता सके कि ये चित्र कहाँ से आये; उन्होंने उत्तराधिकार के द्वारा इन्हें प्राप्त किया था।

संसारचन्द अपनी उत्पत्ति महादेव से बताते हैं। उनके पास वंशा-



चित्रकार अपनी कलाकृतियाँ महाराज संसारचन्द को
भेंट करते हुए



महाराजा संसारचन्द और पंखा
झलता हुआ ओब्रायन

वली है जिसमें उनके पूर्वजों का संबंध इस स्वर्गीय पूर्व-पुरुष के साथ दिखाया गया है।

संसारचन्द के मरणोपरान्त उनके पुत्र अनिरुद्धसिंह गद्दी पर बैठे। कुछ वर्षों तक महाराज रणजीतसिंह के साथ उनका संबंध बहुत अच्छा रहा। कहते हैं, राजगद्दी के समय बड़े-बड़े सिख सरदार बधाइयाँ देने आये और साथ में लाहौर दरबार की ओर से भेंट में एक घोड़ा, एक धनुष, शाल, मोती का कंठा और एक पगड़ी भी लाये। छः महीने के बाद जब अनिरुद्धचन्द महाराज से मिलने गये तो उन्हें एक लाख, बीस हज़ार रुपयों का नज़राना दिया और उनसे 'खिल्लत' प्राप्त की। किंतु कुछ बरसों के भीतर ही एक ऐसी घटना हो गयी जिसने दोनों के बीच झगड़ा पैदा कर दिया और अनिरुद्धचन्द को गद्दी एवं राज्य से वंचित होना पड़ा।

महाराज संसारचन्द की दो लड़कियाँ अविवाहित थीं। महाराज रणजीतसिंह के दीवान, जम्मू के राजा ध्यानसिंह कुलीनता हासिल करने के लिए उनमें से किसी के साथ अपने पुत्र की शादी करना चाहते थे और इस इरादे को उन्होंने महाराज रणजीतसिंह के सम्मुख रखा। रणजीतसिंह के वह लाड़लों में थे, उन्होंने अनिरुद्धसिंह को बुलाकर यह प्रस्ताव किया और उनसे वादा भी करा लिया। पर महारानी को यह संबंध बिलकुल नापसंद था; कटोचवंश की कन्या ध्यानसिंह के घर में ब्याही जाय, इसे वह स्वप्न में भी न सोच सकती थीं। अनिरुद्धचन्द को स्वयं भी, यद्यपि महाराज रणजीतसिंह के लिहाज से उन्होंने 'हाँ' कह दिया था, यह बिलकुल ही नापसंद था। अतएव वह किसी-न-किसी बहाने टालमटोल करते रहे। अंत में महाराज रणजीतसिंह ने नादौन के लिए स्वयं प्रस्थान किया ताकि वहाँ आकर इस विवाह-संबंध को करा डालें। अनिरुद्धचन्द और उनकी माँ ने जब यह संवाद पाया तो वे लड़कियों के साथ रातोंरात सुतलज पार करके अंग्रेजों के राज्य में चले आए; पैतृक सम्पत्ति खो दी पर कटोचवंश में कालिमा न लगने दी। महाराज रणजीतसिंह के बाद ध्यानसिंह ही उनके राज्य के सबसे प्रभावशाली व्यक्ति थे, राजा की उपाधि भी प्राप्त थी, पर उनकी रगों में वह खून कहाँ जो कटोचवंश के साथ मिल सके। धन-दौलत, शक्ति—ये सभी वंश-गौरव के सम्मुख उन्हें तुच्छ प्रतीत हुईं।

अनिरुद्धचन्द ने इसके बाद अपनी दोनों बहनों का विवाह टिहरी-गढ़वाल के राजा के साथ कर दिया, स्वयं शिमले के पास अर्की में रहने लगे। इसके चार वर्षों के बाद उनकी मृत्यु हो गयी। दो लड़के—रणवीरचन्द और प्रबुद्धचन्द—छोड़ गये जिन्हें १८३३ में महाराज रणजीतसिंह ने ब्रिटिश सरकार के अनुरोध पर ५०,००० रुपए की जागीर प्रदान की। मि० भीने (Vigne) १८३५ में इनसे मिले थे। वे उन दिनों ऋुहिन नामक पहाड़ी स्थान के एक छोटे-से मकान में निवास कर रहे थे।

अनिरुद्धचन्द के चले जाने के बाद महाराज रणजीतसिंह नादौन आये, वहाँ उनका स्वागत संसारचन्द के दासी-पुत्र सतोरा ने किया और अपनी दो बहनों को उनसे ब्याह दिया; बदले में काँगड़ा राज्य का एक छोटा-सा टुकड़ा रणजीतसिंह ने उसे दिया, शेष अपने अधिकार में कर लिया। कहते हैं, इसके बाद रणजीतसिंह ने अन्य सभी पहाड़ी राज्यों का भी अपहरण कर लिया। रणजीतसिंह की फौज के केवल दो फ्रांसीसी अफसर भेनचुरा तथा एलार्ड, जिन्होंने १८१५ में 'वाटरलू' के युद्ध में हिस्सा बँटाया था, काँगड़ा और कुल्लू के करीब दो सौ किलों पर कब्जा किया था।

प्रथम सिख-युद्ध के बाद, १८४६ की ६ मार्च की सन्धि के अनुसार, कांगड़ा अंग्रेजों के हाथ आया। कटोचवंश के इस प्राचीन राज्य का चिराग सदा के लिए सो गया।

रणवीरचंद और प्रबुद्धचन्द दोनों ही निःसंतान मरे। महाराज संसारचन्द के छोटे भाई फतहचन्द के वंश के लोग अब भी विद्यमान हैं। ये अब लम्बागाँव में रहते हैं। अंग्रेज सरकार से इन्हें राजा की उपाधि प्राप्त थी।

जहाँ तक नगरकोट या भीमकोट का संबंध है, इसके ऊपर किये गये विविध आक्रमणों का उल्लेख विभिन्न स्थलों पर किया जा चुका है। कटोचों के पूर्वज, महाभारत-कालीन राजा सुशर्माचन्द के बनाये हुए इस क़िले का जीवन भी रोमांच से भरा हुआ था और इसका इतिहास पश्चिमी हिमालय के पहाड़ी राज्यों का इतिहास है, यह बिना अत्युक्ति के कहा जा सकता है।

सदियों तक यह कटोच-वंश का वास-स्थान बना रहा और न जाने कितनी राज्य-शक्तियों को इसने बनते और बिगड़ते देखा। इस पर सबसे

पहला हमला महमूद गज़नी का हुआ; फिर फिरोज तुग़लक, अक़बर, जहाँगीर, गुरखों, सिक्खों और अंत में अंग्रेजों ने बारी-बारी से इस पर पाँव जमाये। बीच-बीच में यह विदेशियों के हाथ से निकलकर कटोचों के अधिकार-गत भी होता रहा, जैसा कि इस पुस्तक के पीछे के पृष्ठों में वर्णित है।

प्रथम सिख-युद्ध के बाद, ९ मार्च १८४६ की सन्धि के अनुसार, सुतलज और व्यास नदियों के बीच का सारा पहाड़ी इलाका अंग्रेजों को मिला। किन्तु क़िले के सिख-फौजी अफसर ने इसे अंग्रेजों के हवाले करने से इन्कार किया। जब उसे राज़ी करने के सारे तरीके निष्फल हो गये तब लुधियाना से अंग्रेजी फौज की एक टोली तोपों के साथ उसके खिलाफ भेजी गयी। दो महीनों के घेरे के बाद उपर्युक्त सिख-गढ़-अध्यक्ष ने हथियार डाले और कांगड़े का यह दुर्ग अंग्रेजों के अधिकारगत हुआ। अंग्रेजों ने इसके भीतर फौज की एक टोली रख छोड़ी जो १९०५ तक वहाँ बनी रही। यही वह वर्ष है जबकि कांगड़ा-कुल्लू प्रांत को एक बड़े विध्वंशकारी भूचाल का सामना करना पड़ा था। दुर्ग की वे दीवारें जिन्हें दुश्मनों की 'तोप' न तोड़ सकीं, पल मात्र में प्रकृति के द्वारा भूमिसात कर दी गयीं। केवल कांगड़ा शहर में १,३३९ व्यक्ति भूकंप के कारण ढहते हुए मकानों से दबकर, मर गये।

आज कांगड़ा घाटी के वे क़िले जो किसी समय वीर राजपुरुषों तथा सुन्दरियों के निवासस्थल थे, वीरान पड़े हुए हैं या १९०५ के भूकंप में ध्वंस होकर धराशायी हैं। हाँ, पुराने दिनों की याद दिलाने वाले नगरकोट के कुछ फाटक—अमीरी तथा जहाँगीरी दरवाज़े आदि—और मंदिर अवशेष हैं। इनमें क़िले के भीतर के लक्ष्मीनारायण और सीतला देवी के मन्दिर के दो कमरे विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं जिनकी दीवार पर उच्चकोटि के नक्काशी के काम आज भी दर्शित हैं। कहते हैं, लक्ष्मीनारायण मंदिर की छत पर इससे भी बढ़िया नक्काशी बनी हुई थी किंतु भूचाल ने उसको भी मिटा दिया। इस संबंध में डाक्टर भोगल ने ठीक ही लिखा था—'The destruction of these two buildings is, perhaps, the severest loss which archaeology has suffered in the disaster of the 4th April, 1905; अर्थात् ४ अप्रैल, १९०५ की विपत्ति में पुरातत्व को

जो सबसे बड़ी क्षति उठानी पड़ी थी वह इन दो इमारतों का ध्वंस था।

अंबिका देवी का मंदिर जिसके संबंध में डॉ० भोगल का अनुमान है कि यह राजा संसारचन्द के द्वारा निर्मित हुआ था, विद्यमान है और वहाँ आज भी पूजा होती है। दूसरा मंदिर शहर के पड़ोस में बजेश्वरी देवी का था जो शायद सबसे प्राचीन और महत्त्व का था, ऐतिहासिक भी, पर १९०५ के भूडोल ने इसे भी तहस-नहस कर दिया।

डाक्टर सर मुहम्मद इक़बाल ने लिखा था—

नालाकश शीराज़ का बुलबुल हुआ बग़दाद पर,
दाग़ रोया ख़ून के आँसू जहानाबाद पर।

अफ़सोस कि इन पर आँसू बहाने वाला कोई शायर पैदा नहीं हुआ!

: ४ :

सिख और उनका कांगड़ा प्रवेश

जैसा कि पीछे लिखा जा चुका है महाराज संसारचन्द की सिखों के साथ बार-बार मुठभेड़ हुई और अन्त में महाराज रणजीतसिंह के हाथों उन्हें हार ही नहीं खानी पड़ी बल्कि उनके प्रतापादित्य के अस्त होने का यही एक मात्र कारण भी हुआ। पंजाब में उन दिनों सिखों का जबर्दस्त दबदबा था और वहाँ का तत्कालीन इतिहास अपूर्ण ही होगा यदि उसमें सिख-शक्ति का सविस्तार उल्लेख न हो। नीचे की पंक्तियों में सिख-धर्म, सिख-गुरु, विभिन्न सिख-दलों और महाराज रणजीतसिंह के संबंध की कुछ बातें लिखी जाती हैं--

सिख-धर्म की आधार-शिला भारतवर्ष के विख्यात सन्त गुरु नानक थे जिनकी तुलना नगाधिराज हिमालय से की जा सकती है जिससे गंगा, यमुना, सरयू आदि विभिन्न नदियाँ प्रवाहित होती हैं। उनके विचारों ने कई मतों अथवा '**पंथों**' को जन्म दिया--सिख धर्म, नानक पन्थ, उदासी सम्प्रदाय, जिसके संस्थापक गुरु नानक के पुत्र श्रीचन्द थे, आदि सभी स्रोतों के उद्गम-संस्थान वही थे; और जहाँ सिख-धर्म जैसी जबर्दस्त राजनैतिक संस्था के वह आदिकारण थे, वहीं नानकपंथियों के-से विराग और अहिंसा से भरे हुए साधुओं के आदिगुरु भी। पूर्व-भारत के प्रसिद्ध वैष्णव-संत महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामी को जो भक्ति रस के भण्डार माने जाते हैं, नानक के ही एक शिष्य मानसरोवरवासी श्री ब्रह्मानन्द परमहंस का कृपा-पात्र-शिष्य होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। बंगाल में उन्होंने उसी प्रेम की वर्षा की जो सदियों पूर्व गौरांग महाप्रभु ने बरसाया था; गुरु नानक के पथ-चिह्नों पर चलकर भगवन्नाम और अजपाजप को श्रेष्ठ साधन बताकर 'जात-पाँत पूछे ना कोई, हरि को भजे सो हरि को होई' के विचार का प्रचार किया।

गरज़ यह कि संसार के महान् संतों में गुरु नानक को ही यह गौरव प्राप्त

है कि वह एक बड़े धर्म-प्रवर्तक ही नहीं थे, बल्कि एक ही धर्म की कई भिन्न धाराओं के मूलश्रोत भी थे और ये धाराएँ ऐसी थीं जिनका अन्तर एक होते हुए भी वाह्य रूपरेखा में काफी फर्क था या है।

गुरु नानक का जन्म एक खत्री परिवार में लाहौर से आगे, रावी नदी के तट पर, तलवंडी नामक गाँव में, १४६९ ई० में, हुआ था[1]। दिल्ला के तख्त पर उन दिनों बहलोल लोदी विराजमान था और पंजाब में हिन्दू-मुसलमानों के बीच काफी वैमनस्य था; हिन्दुओं पर मुस्लिम शासकों का अत्याचार इसका मुख्य कारण था।

नानक बालकपन से ही गंभीर स्वभाव के एकान्तप्रिय थे। किसी ज्योतिषी ने उनके पिता से, जो एक छोटे-मोटे व्यापारी थे, कहा था कि नानक एक दिन घर छोड़कर साधू हो जायेंगे और संसार के बड़े संतों में उनकी गणना होगी, अतः उनके पिता-माता उनके संबंध में हमेशा शंकित रहा करते थे। यही कारण था कि सोलह साल की उमर होते-न-होते उनके पिता ने सुलक्षणी नामक कन्या से उनकी शादी कर दी। उन्हें घर-द्वार-रोज़गार में लगाने की भरपूर चेष्टा भी की पर वे उन्हें इन बन्धनों में न डाल सके। नानक अधिकतर दार्शनिक चिन्तन में अपना समय बिताते थे। साथियों से छिपकर जंगलों में चले जाते और दिन-दिन भर वहीं बैठे रहते थे।

नौ साल की उम्र में उनका यज्ञोपवीत-संस्कार हुआ। यज्ञोपवीत धारण करने का समय आया तो नानक ने उसे पहनने से इन्कार कर दिया। कहा—यज्ञोपवीत पहनने से मैं बड़ा न हूँगा, यह व्यर्थ की चीज़ है, भगवान का नाम लेकर ही मनुष्य ऊँचा होता है।

पिता ने उन्हें कई बार रुपये देकर व्यापार करने को, अपने कारिन्दों के साथ, बाहर भेजा किंतु हर बार उन्होंने इन रुपयों को फकीरों के खिलाने में खर्च कर डाले।

बड़े हुए, शादी हुई, पर घर-गृहस्थी की ओर उनका ध्यान न गया।

---

१. जिस घर में नानक का जन्म हुआ था वह आज 'ननकाना' के नाम से प्रसिद्ध सिखों की तीर्थभूमि है।

अन्त में उनकी बहन नानकी ने उन्हें अपने यहाँ रहने को बाधित किया; नवाब दौलतखां लोदी के यहाँ एक नौकरी—मोदीखाने की देखरेख भी दिलवाई। वहीं उम्र के बत्तीसवें बरस में उन्हें एक पुत्र हुआ—श्रीचन्द, और प्रायः साढ़े चार वर्षों के बाद दूसरे लड़के लक्ष्मीदास का जन्म हुआ। लक्ष्मीदास के शैशवकाल में ही नानक ने गृह-परित्याग किया, फकीरों की पोशाक पहन पर्यटन् को निकल पड़े।

साथ में मरदाना, लहना—जो पीछे चलकर उनके उत्तराधिकारी गुरु हुए—बाला और बुद्धा नाम के उनके साथी भी चले। समस्त भारतवर्ष की यात्रा समाप्त करके उन्होंने फारस, काबुल, मक्का आदि की यात्रा की। मक्का के संबंध में यह किम्वदन्ती है, कि वह एक बार काबा की ओर पाँव करके सोये हुए थे; काज़ी सकनुद्दीन ने यह देखकर क्रोध में कहा—**"अधर्मी! तेरा यह साहस कि अपने पाँव इस ओर करके खुदा के घर का अपमान कर रहा है।"** नानक ने धीरे से कहा—**"मेहर कर, मेरे पाँवों को उस ओर कर दे जिधर खुदा का घर न हो।"**

काज़ी उनकी बातें सुनकर भौंचक्का-सा रह गया।

भारत लौटने पर फिर एक बार उनके परिवारवालों ने कोशिश की, कि वह गार्हस्थ-जीवन में लगें पर उनके प्रयास निष्फल हुए। वह पुनः यात्रा पर निकल पड़े और इस बार बंगाल, सिन्ध, अफगानिस्तान, तुर्की, दक्षिण, लंका आदि की यात्रा की। राह में, पहाड़ों के बीच, बाबा गोरखनाथ से उनकी भेंट तथा बातचीत हुई। अपने धर्मोपदेश के कारण—जिसमें वह मूर्त्तिपूजा का विरोध, हिन्दुओं के शास्त्रों तथा मुसलमानों के कुरान की कड़ी आलोचना करते तथा एक मात्र भगवन्नाम का प्रचार एवं प्रेम और समता की शिक्षा देते थे—उन्हें जहाँ-तहाँ काफी सख्तियाँ झेलनी पड़ी पर अपने विचार पर वह अडिग रहे। कहते हैं, इस्तामबुल में उनका तुर्की के सुलतान से जो अपने उत्पीड़न के लिए विख्यात था, देर तक बहस-मुबाहसा चलता रहा; अंत में सुलतान इनकी बातों से इतना प्रभावित हुआ कि उसने अपनी सारी दौलत फकीरों को बाँट दी।

अंततोगत्वा रावी नदी के तट पर उन्होंने अपना डेरा जमाया। अब वह स्त्री-बच्चों के साथ 'पद्मपत्रमिवाम्मुवत्' रहने लगे। किसी राजा-महा-

राजा से उनका खर्च कम न था। हज़ारों असहाय लोग तथा भिखारी उनसे प्रतिदिन भोजन पाते। कई इमारतें खड़ी हो गयीं। यह स्थान आज 'डेरा बाबा नानक' के नाम से प्रसिद्ध है।

जालन्धर ज़िले में करतारपुर नाम का एक शहर भी उन्होंने बसाया जो रावी के ही तट पर लाहौर से चालीस मील और ऊपर है। यहीं ६१ साल की उमर में गुरु नानक ने शरीर-त्याग किया। साठ वर्ष, पाँच महीने, सात दिनों तक वह गुरु के पद पर आसीन रहे।

नानक ने कहा—'ईश्वर एक है, और जगत् के सभी जीव-जन्तु उसी के बनाये हुए हैं, अतएव सब समान हैं। भगवान् का नाम जपना ही सर्वश्रेष्ठ साधन है—

> हर्रेनाम हर्रेनाम हर्रेनामहि केवलम्,
> कलौनास्त्येव नास्त्येव नास्त्येवगतिन्यथा।

अहर्निशि उसका नाम जपो और सब से प्यार करो, यही सबसे ऊँचा धर्म है। यह न कुरान में है, न पुराण में।'

बाह्याडम्बरों के वह विरुद्ध थे तथा उनके मत में राजा और रंक, गृहस्थ और संन्यासी, सबके लिए ईश्वर प्राप्ति समान रूप से संभव है। पारस्परिक कलह के वह विरोधी थे, चूंकि जब सब में ईश्वर है तो फिर विरोध किससे? वह समय ऐसा था जब पंजाब में—देश के अन्य भागों में भी—हिन्दू मुसलमानों के बीच काफी मनमुटाव चल रहा था। नानक ने इसका विरोध ही नहीं किया, बल्कि दोनों के बीच प्रेम उत्पन्न हो, इसके लिए वह सतत यत्नशील रहे। कई मुसलमान भक्तों को अपना अंतरंग बनाकर रखा जिनमें 'मरदाना' मुख्य था जो रूबाब पर उनकी वाणियों को गा-गाकर उन्हें सुनाया करता था।

नानक के कथनों-वाणियों के संग्रह को 'आदि ग्रंथ' कहते हैं जो ग्रंथ साहब का पहला भाग है, दूसरे में गुरु गोविन्दसिंह के वचन हैं। परिस्थितियों से विवश होकर गुरु गोविन्दसिंह को नानक के चलाये हुए इस प्रेम-धर्म में अनेक परिवर्तन करने पड़े तथा अनुयायियों के भीतर युद्ध और विजय की भावनाएँ उत्पन्न करनी पड़ीं, यही वजह है कि आज का सिख-धर्म एक सैनिक-धर्म की तरह नजर आता है।

नानक की दृष्टि में गुरु का स्थान बहुत ऊँचा है, चूंकि साधक की इस बेचैनी के मिटाने की क्षमता उसी में है--

कोऊ ऐसी सखी मोहि नाहि मिली,
जो पिय की डगरिया बता देती !

'पिय की डगरिया,' अर्थात् भगवद् प्राप्ति का मार्ग, गुरु ही बता सकता है—गुरु बिन कौन दिखावै बाट ?--अतः वह ईश्वर से भी श्रेष्ठ है; कहा भी है--

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काको लागौं पाँय।
बलिहारी वा गुरु की, जो गोविंद दियो दिखाय ।।

नानक ने लहना को यह कहकर कि मेरी आत्मा अब लहना के अन्दर प्रवेश कर गयी है (वह उनका सबसे बड़ा भक्त और आज्ञाकारी था) उसे अपने गुरुपद का उत्तराधिकारी मनोनीत किया। तब से सिखों के बीच यह धारणा बनी रही कि हर गुरु के भीतर नानक की आत्मा का निवास है।

गुरुपद पर आसीन होकर लहना ने अपना नाम अंगद रखा। वह सिखों के द्वितीय गुरु थे। नानक पर उनकी अटूट आस्था थी और उनकी वाणियों का उन्होंने संकलन किया था।

तीसरे गुरु अमरदास हुए जो स्वयं कवि थे तथा जिन्होंने अनेक सुन्दर पदों की रचना की थी। श्रीचन्द के चलाये हुए उदासी सम्प्रदाय को संसारी सिख-धर्म या मत से अलग करने का श्रेय उन्हें ही प्राप्त है। यदि वह ऐसा न करते तो शायद उदासी सम्प्रदाय आज सिख-धर्म की चकाचौंध में विलीन अथवा अस्तंगत हो गया होता।

अमरदास की एक पुत्री थी—मोहिनी, जिसे वह बहुत प्यार करते थे और इसी प्यार के कारण अपने पुत्र को गुरु का आसन न देकर उन्होंने अपने दामाद रामदास को अपना उत्तराधिकारी बनाया।

चौथे गुरु रामदास हुए। अक़बर इनका बड़ा सम्मान करते थे। जागीर में इन्हें बादशाह के द्वारा जमीन प्राप्त हुई थी। अमृतसर के प्रसिद्ध तालाब और शहर इन्हीं के द्वारा बनाये गये थे।

पाँचवें गुरु अर्जुनदास ने 'ग्रंथसाहब' का संकलन किया। वह बड़े ठाट-बाट के साथ रहते थे–हाथी, घोड़े, सिपाहियों से परिवेष्टित। लाहौर के तत्कालीन

सूबेदार या वज़ीर चन्दूशाह की पुत्री के साथ अपने पुत्र का विवाह-प्रस्ताव अस्वीकार करके उन्होंने उससे शत्रुता मोल ले ली। चन्दू ने जहाँगीर के कान भर दिये जिसके परिणामस्वरूप इन पर राजद्रोह का इल्जाम लगा और यह क़ैद में डाल दिये गये; वहीं इनकी लू लगने से मृत्यु हुई।

गुरु हरगोविन्द छठे गुरु हुए। आध्यात्मिकता के साथ-साथ इनमें वीरोचित गुण भी थे। शिकार से इन्हें खास शौक था; मांस-भक्षण भी करते थे शाहजादा दाराशिकोह के संग इनकी बड़ी मैत्री थी; प्रतिवर्ष लाहौर में कुछ दिन उनके साथ यह बिताया करते थे, फिर भी, जहाँगीर और शाहजहाँ दोनों के साथ अनबन हो जाने के कारण इन्हें उनसे लड़ना पड़ा; शाही फौज को तीन बार इनके हाथों हार खानी पड़ी थी। युद्ध-कौशल में यह बड़े निपुण थे

१६४५ में यह परलोकगत हुए; इनके पौत्र हरराय ने सातवें गुरु का पद ग्रहण किया। दाराशिकोह का साथ देने के कारण यह औरंगजेब के कोप का भाजन बने। ३३ वर्ष शासन करने के बाद १६६१ में करतारपुर में इनकी मृत्यु हुई।

हरराय के दो पुत्र थे, रामराय और हरकिशन। हरकिशन यद्यपि अल्प वयस्क थे, फिर भी पिता के अधिक प्रिय थे। मरने के कुछ दिन पूर्व उन्होंने यह कहा था कि हरकिशन ही उनकी गद्दी के उत्तराधिकारी होंगे, अतएव वही गद्दी के हकदार समझे गये, हालांकि उनकी उम्र उस समय केवल छ साल की थी। ज्येष्ठ पुत्र रामराय को जो उन दिनों दिल्ली में थे, जब यह खबर मिली तो वह उत्तेजित हो उठे। सिखों के बीच इस विषय को लेकर झगड़ा उठ खड़ा हुआ, अन्त में बादशाह के ऊपर यह छोड़ा गया कि वह जिसे मनोनीत कर दें वही गद्दी पर बैठे। बादशाह ने हरकिशन को दिल्ली बुलाकर जनानखाने में उसकी बुद्धि की परीक्षा ली; औरतों की भरी हुई मजलिस में खड़ा करके उससे पूछा कि मलका कौन हैं। बालक हरकिशन ने फौरन उँगली के इशारे से ठीक-ठीक बता दिया कि अमुक व्यक्ति मलका है। उसकी बुद्धि-तीक्ष्णता से प्रभावित होकर बादशाह ने फैसला दिया कि हरकिशन ही गुरु का आसन ग्रहण करे, और यही हुआ। यह आठवें गुरु हुए पर दो-तीन साल के भीतर ही दिल्ली में चेचक से उनकी मृत्यु हो गई (१६६४)। जब वह मरण-शैया पर पड़े हुए थे उनके कुछ अनुयायियों

उनसे पूछा कि वह अपना उत्तराधिकारी किसे चुनते हैं ? कुछ देर चुप रह कर उन्होंने कहा : 'जाओ, तुम्हारे गुरु व्यास के तटवर्ती बकाला गाँव में हैं।'

गुरु हरगोविन्द के पुत्र तेगबहादुर पटना आदि कई स्थानों का भ्रमण करके उन दिनों बटाला में रहा करते थे। बालक हरकिशन का अभिप्राय इनसे था, पर सोंधियों ने अलग एक गुरु बना रखा था; इन दोनों को लेकर पुनः सिखों के बीच काफी झगड़ा चला, पर अन्त में गुरु-पद का सेहरा तेग-बहादुर के मत्थे ही बंधा।

तेगबहादुर ने एक क़िले का निर्माण शुरू किया, उनके दुश्मनों को मौक़ा मिला, औरंगज़ेब से जाकर उन्होंने कहा कि आपसे लड़ने के लिए ही ये तयारियाँ हो रही हैं। बादशाह ने उन्हें दिल्ली बुलाया और बन्दी बनाकर रख छोड़ा। किन्तु महाराज जयपुर के अनुरोध पर वह कुछ दिनों के बाद मुक्त कर दिये गये। महाराज उन्हें अपने साथ बंगाल की ओर लेते गये। एक उदासी साधु की तरह वह घूमते रहे, हिन्दू तीर्थ-स्थानों की यात्रा की और अंत में पटना में अपना आसन जमाया। यहाँ सांसारिक कार्यों से अपने को अलग करके अधिकतर वह ध्यान-भजन में रहा करते थे। बाकी समय सिखों को शिक्षा देने में बिताते थे। यहीं उनकी धर्मपत्नी गुजरी ने गोविन्द-सिंह को जन्म दिया।

पाँच-छः वर्ष पटना में व्यतीत कर वह लौटे तथा कहलूर के राजा से आनन्दपुर में जमीन लेकर वहीं रहने लगे। पंजाब लौटकर उनमें एक विचित्र परिवर्तन आ गया। साधुता तजकर अब वह एक लुटेरों के सरदार के रूप में प्रकटित हुए। लूटपाट, उत्पीड़न में लग गये। चारों ओर त्राहि-त्राहि मच गई। बादशाह के कानों तक यह बात पहुँची। उसने पुनः उन्हें दिल्ली पकड़वा मंगवाया, दोनों के बीच आध्यात्मिक बातें होती रहीं, अंत में बादशाह ने उनसे कहा, कि वह यदि सत्गुरु हैं तो कुछ करिश्मा दिखायें। तेगबहादुर ने अपने गले में एक कागज बाँधकर कहा, कि इस पर तलवार चलायी जाय, उसका कोई असर न होगा। तदनुसार बादशाह के हुक्म से तलवार चलायी गयी, पर उनका सिर धड़ से अलग होकर जमीन पर जा गिरा। कागज खोलकर पढ़ा गया; उस पर लिखा था : 'सिर दिया, सर न दिया।' अर्थात् प्राण दिये पर रहस्य की बातें न बतायीं। तेग़बहादुर की मृत्यु पर उनके

१५ वर्षीय पुत्र गोविन्दसिंह सिखों के दसवें गुरु हुए ।

सिख-गुरुओं में गुरु गोविन्दसिंह का नाम सबसे ऊँचा है । उनमें नतृत्व शक्ति कूट-कूटकर भरी हुई थी । मुसलमानों के वह कट्टर शत्रु थे । स्वाभाविक था कि उनके शासन काल में सिख-समाज एक सुसंगठित संस्था के रूप में आविर्भूत होता तथा मुस्लिम शासन के विरुद्ध वह अपना जबर्दस्त संगठन करते । गुरु गोविन्दसिंह के हृदय में पिता की मौत का बदला लेने की आकांक्षा हिलोरे मार रही थी ।

गुरु-पद पर आसीन होते ही वह पहाड़ियों में चले गये और वहीं उन्होंने संगटन के सारे काम सम्पूर्ण किये । इसके पूर्व देवी के मंदिर में नर-बलि देकर (उनके एक अनुयायी ने स्वयं सहर्ष अपने को बलिदान के लिए अर्पित किया था) उन्होंने देवी की कृपा की याचना की ।

नानक के चलाये हुए धर्म में उन्होंने दूरदर्शी संशोधन किये तथा सिखों का एक धार्मिक एवं फौजी राष्ट्रमंडल क़ायम किया । जात-पाँत को हटाया, नये सिख बनाने की व्यवस्था बनायी—जिसे 'पाहल[1]' धार्मिक-रीति कहते ह—पाहल-प्राप्त जनों को 'सिंह' की उपाधि दी तथा उन्हें 'खालसा'—पवित्रतम—संज्ञा से विभूषित किया। स्वयं भी उक्त पाहल विधि से पवित्रता प्राप्त की और कहा : 'खालसा गुरु से, और गुरु खालसा से, होय, एक दूसरे का ताबेदार होय !'

दल-के-दल लोग इसी प्रकार पाहल-रीति से 'खालसा' में शामिल हुए । उन्हें पाँच वस्तुओं के ग्रहण का आदेश मिला—कंघी, कच्छ, कर्द, केस और कृपाण । इसके बाद मखोवाल में सिखों की एक महती सभा में जिसमें लगभग ८०,००० सिख मौजूद थे, भाषण देते हुए उन्होंने कहा—'तुम्हारे बीच जात-पाँत न रहनी चाहिए, सब एक समान हों, कोई किसी दूसरे से बड़ा-छोटा न हो । सभी एक ही आसन पर बैठकर खायें, एक ही प्याले से पियें, मूर्तियाँ तोड़ दी जायें, यज्ञोपवीत हटा दो, झूठे संतों के मज़ार त्याग दो, कुरान फाड़ डालो······।'

---

१. एक प्रकार की क्रिया जिसमें घड़े का जल सिर पर डालते हैं और कुछ पीते भी हैं ।

सिखों के बीच एक सनसनी फैल गयी; उनकी रगों में नया खून बह चला, और गुरु-आदेश से वे आपस में एक दूसरे की अभ्यर्थना 'वाह गुरुजी का खालसा' 'श्री वाह गुरुजी का फतह !' कहकर करने लगे। गुरु गोविन्द-सिंह को वे देवता की भाँति पूजने लगे।

गुरु गोविन्दसिंह ने कई क़िले बनाये, सिख-सेना का संगठन किया, ताकि पहाड़ी राजाओं से वे सुरक्षित रहें। स्वाभाविक था कि इस परिस्थिति में उनकी मुठभेड़ पड़ोसी राजाओं के साथ होती। यही हुआ, नालागढ़, नाहन और इन्दौर के राजाओं के साथ उनकी लड़ाई छिड़ गयी। उनसे प्रोत्साहित होकर पहाड़ के राजाओं ने मुग़ल बादशाह को कर देना बन्द कर दिया। कांगड़ा से ऐसा लगा कि मुग़लों के पाँव सदा के लिए उखड़ गये, पर औरंगज़ेब भी चुप रहने वाला न था; उसने एक बड़ी-सी शाही सेना गुरु गोविन्दसिंह के खिलाफ भेजी। गुरु गोविन्द और उनके फौजी पदाधिकारी जमकर लड़े पर मुग़ल सेना के सामने ठहर न सके, उन्हें भागना पड़ा। उनके दोनों लड़के मार दिये गये जिनके शोक में उनकी पत्नी गुजरी ने भी प्राण-परित्याग कर दिया। गरज़ यह कि कुछ दिनों के लिए उन्हें बड़ी दिक्कतों और सदमों का सामना करना पड़ा।

अंत में औरंगज़ेब के बुलाने पर वह उससे मिलने दक्षिण गये पर वहाँ पहुँचते ही उन्हें पता लगा कि बादशाह की मृत्यु हो गयी, उनकी जगह तख्त पर बहादुरशाह विद्यमान है। बहादुरशाह ने उनकी पूरी आवभगत की और उन्हें पाँच हजार की शाही फौज का नेता मुकर्रर किया।

पुत्र और बन्धुओं के शोक से सन्तप्त गुरु गोविन्दसिंह जीवन से निराश हो चुके थे। इसी बीच उनके एक पठान नौकर ने धोखेबाजी से उन पर कटार चलाई, वह घायल हुए पर बच रहे। कुछ दिन के बाद उनका घाव पुनः उभर आया। चिकित्सा से कोई लाभ न हुआ; मरण-काल समीप देखकर उन्होंने अपने अनुयायियों को एकत्रित किया और कहा—

"भगवान ने जिन दस गुरुओं को भेजा था वे अपना कार्य समाप्त कर चुके। मैं अब अपने खालसा को परमात्मा के ऊपर छोड़ता हूँ। जो कोई भी गुरु को देखना चाहेगा वह सवा रुपये का प्रसाद ग्रंथ साहब को अर्पित कर उनके सामने झुकेगा और उन्हें खोलेगा, तभी उसे गुरु का दर्शन

होगा। जो तुम चाहोगे, मिलेगा; ग्रंथ तुम्हारी रक्षा करेगा; गुरु खालसा के साथ होंगे, जहाँ भी कम-से-कम पाँच सिख होंगे, वहाँ गुरु का अस्तित्व होगा। हाँ, सत्य के पथ से कभी विचलित न होना!'

एक चिता गोदावरी के तट पर बनवा कर स्वयं उसका आरोहण किया और कहा—

पाहिं गहे जबते तुम्हरे, तब ते कोऊ आँख तरे नहिं मान्यो,
राम, रहीम, पुराण, कुरान, अनेक कहैं मत एक न आन्यो।
स्मृति शास्त्र सुवेद सबै वहु भेद कहे, हम एक न जान्यो,
श्री असिपान कृपा तुम्हारी, कर मैंन कह्यो सब तोहि बखान्यो ॥

फिर आँखें बन्द कर लीं, और सदा के लिए सो गये। घटना १७०८ की है; उस समय उनकी उम्र केवल ४८ साल की थी।

गुरु गोविन्दसिंह संसार के महान् पुरुषों में हैं। आध्यात्मिक बल के साथ-साथ उनमें युद्ध-कौशल भी था, न्याय बुद्धि भी। धन का लोभ उन्हें छू तक नहीं गया, बड़प्पन उनमें कूट-कूट कर भरा हुआ था; विद्या-प्रेमी थे वह, कुशल कवि भी।

गुरु गोविन्दसिंह के स्वर्गारोहण के बाद गुरू-पद की समाप्ति हो गयी। सिखों का कोई आध्यात्मिक नेता न रहा। हाँ, बन्दा नामक एक बैरागी कुछ दिनों तक एक सिख-सेना तैयार कर मुसलमानों से लड़ता रहा, पर उसमें वे गुण न थे जो गुरुओं में थे। यही नहीं, आगे चलकर वह केवल लूटमार में लगा और पंजाब में घोर आतंक का कारण बन गया। उसके उभारे हुए सिखों ने बड़ी निष्ठुरता से लोगों को लूटा-मारा और स्त्री-पुरुष-बच्चों की हत्याएँ कर डालीं। पर अंत में शाही फौज के सामने उन्हें हार खानी पड़ी और तब उसने भी इसका बदला बन्दा और उसके अनुयायियों से बड़ी बेरहमी से लिया। उसके सारे कृत्य नानक और गोविन्दसिंह के उच्च सिद्धान्तों के प्रतिकूल पड़ते थे और यही कारण है कि उसके मरणोत्तर न तो मुसलमान और न सिख ही उसे आदर की दृष्टि से देखते हैं। इतिहास के पृष्ठों में वह निरा डाकू-सरदार के रूप में रह गया। यह सही है कि गुरु गोविन्दसिंह के अंतिम दिनों में वह उनके साथ था और उसे गुरु के आशीर्वाद भी प्राप्त हुए थे, पर गुरु के वचनों पर न चलकर उसने एक दूसरा ही रास्ता अपनाया

किया जो न्याय का नहीं, अन्याय और क्रूरता का था। जाहिर है कि गुरु गोविन्दसिंह जैसे महान् पुरुष की आत्मा इस विषैले घूंट को कभी पी नहीं सकती थी। अतः अपने दुष्कर्मों का वह भागी बना; गुरु की शरण उसे प्राप्त न हो सकी।

सन् १७६१ ई० में अहमदशाह अब्दाली का मुग़लों के साथ युद्ध हुआ जिसमें वह विजयी हुआ। मुग़ल-साम्राज्य के पाये हिल गये। यह एक ऐसी चोट थी जिसे वह सँभाल न सका। उसकी शक्ति क्षीण हो गयी। मुल्क में—खासकर उत्तर भारत में—एक अराजकता की स्थिति पैदा हो गयी। पानीपत की इस लड़ाई के बाद पंजाब का शासन अत्यन्त ढीला पड़ गया। लाहौर का मुग़ल सूबेदार महज एक दूरस्थ फौजी छावनी के सेना-पदाधिकारी के रूप में रह गया। सिखों के लिए यह स्वर्ण-सुयोग के समान था; विभिन्न सिख सरदारों ने इलाके बाँट लिये और उनके अन्दर वे स्वतंत्र शासक की तरह राज्य करने लगे। अपने-अपने गाँवों के नाम पर उन्होंने इन राज्यों का नामकरण किया, जैसे कि रामगढ़िया, अहलुवालिया इत्यादि और इन्हीं नामों से वे पुकारे भी जाने लगे। इन सिख सरदारों ने मिलकर एक सिख-मंडल सा क़ायम किया जिसका संयुक्त उद्देश्य मुसलमानों के विरुद्ध लड़ना, सिख और सिख-गुरुओं पर किये गये जुल्मों का बदला लेना था। अपनी इस उद्देश्य-सिद्धि में उन्होंने सारे पंजाब में लूटमार मचा डाली जिसका फल केवल मुसलमानों को ही नहीं, बल्कि हिन्दुओं को भी—जैसा कि ऐसी परिस्थितियों में अक्सर हुआ करता है—भुगतना पड़ा। धीरे-धीरे ये सरदार लुटेरा दलों के सरदार-से बन गये और गाँव-शहरों का लूटा जाना आये दिन की घटना हो गयी।

अहमदशाह अब्दाली और इन सिख सरदारों के बीच बार-बार लड़ाइयाँ हुई, जिनमें सिख पराजित होते रहे। अहमदशाह ने सिखों के साथ बड़ी क्रूरतापूर्वक बदला लिया, पर उसके भारत से प्रयाण करते ही ये सिख सरदार और उनकी फौजें पुनः मैदान में आ खड़ी होती रहीं और पहले से भी अधिक कड़ाई से मुसलमानों को अहमदशाह की सख्तियों के लिए कर चुकाना पड़ा। कई मुस्लिम राज्यों—मलेर कोटला, बरोच आदि के सामन्तों—को उनके आघातों का सामना करना पड़ा। सुतलज से लेकर यमुना तक का

सारा इलाका इस प्रकार सिखों के अधिकारगत हो गया, पर इसके लिए उन्हें काफी बलिदान देने पड़े।

सिखों के उत्पात का संवाद पाकर अहमदशाह १७६२ में हिन्दुस्तान लौटा और उसी वर्ष फरवरी के महीने में लुधियाना के पास कोटा रहीरा में सिखों को उसके हाथों सबसे बड़ी हार खानी पड़ी। कहते हैं, युद्ध-क्षेत्र में सिखों के प्रायः ६०,००० सैनिक थे जिन्होंने बड़ी बहादुरी से शाही फौज का मुकाबला किया, पर अचानक उनके बीच भगदड़ मच गयी, शत्रु-सेना ने हरियाणा तक उनका पीछा किया, कुल प्रायः ३०,००० सिख इस युद्ध और भगदड़ में काम आये।

कैदियों के फूल-वंशी सरदार, पटियाला राज्य के संस्थापक, आलासिंह भी थे जिन्हें लोहे की जंजीर में बाँधकर लाहौर लाया गया, पर शाह वलीखां के अनुरोध और जुर्माना देने पर वह बन्धन-मुक्त कर दिये गये। आलासिंह की पत्नी रानी फत्तू ने चार लाख रुपये नज़राना में दिये और अहमदशाह इस सिख सरदार के व्यवहार और व्यक्तित्व से इतना प्रभावित हुआ, कि उन्हें खिल्लत प्रदान की और सूबेदार के पास यह हुक्म भेजा कि इनका सारा जब्त किया हुआ इलाका इन्हें लौटा दिया जाय, साथ-साथ उन्हें 'राजा' की पदवी से भी विभूषित किया।

इसके बाद अहमदशाह ने अमृतसर जाकर सिखों का मंदिर तोड़ा और उन पर जितने भी जुल्म किये जा सकते थे, किये। पर उसके भारत से लौटते ही सिख फिर लड़ाई में जूझ पड़े और सरहिन्द के पास अफ़गानों पर उन्होंने ज़बर्दस्त विजय प्राप्त की। अफ़गानी सूबेदार रण-क्षेत्र में खेत आया। अहमदशाह सातवीं बार हिन्दुस्तान आया पर घरेलू झगड़ों के कारण उसे जल्द ही काबुल लौट जाना पड़ा। शीघ्र ही लाहौर भी सिखों के अधिकार में आ गया।

१७६७ में अहमदशाह आठवीं बार हिन्दुस्तान आया। सिख उसके आते ही जगरांव की ओर जंगल-पहाड़ों में जाकर अनुकूल समय की प्रतीक्षा करने लगे। इस बार अहमदशाह की नीति मेल-मिलाव की थी, चूंकि वह वृद्ध हो चुका था और उसका स्वास्थ्य भी गिरता जा रहा था। इसी नीति के सिलसिले में उसने पटियाला के आलासिंह के पौत्र अमरसिंह को

बुलाकर महाराज की उपाधि दी। कई हिन्दू राजाओं और लाहौर के भंगी सरदार के साथ मैत्री स्थापित की। कांगड़ा के तत्कालीन कटोच राजा को उसने ख़ास तौर पर इज्ज़त बख्शी और जलन्धर दोआब का सारा क्षेत्र और पड़ोस के पहाड़ी इलाके उनके हवाले करके उन्हें अपना प्रतिनिधि बनाता गया। इसके कुछ वर्षों के भीतर ही उसकी मृत्यु हो गयी।

अहमदशाह के मरने तक सिखों का आधिपत्य पूर्व में सहारनपुर तक, पश्चिम में अटक तक, दक्षिण में मुलतान और सिन्ध से लेकर उत्तर में कांगड़ा, जम्मू और भीमवर तक स्थापित हो चुका था। स्थानीय जमींदार, जो दुर्रानी के विरुद्ध बगावत कर चुके थे, उनके साथ थे। बड़े सरदार के नीचे विभिन्न जाति के छोटे-छोटे सिखों की जमायत थी, इन सबको उन्होंने एक साथ मिलाकर एक दल बनाया जिसका नाम 'मिस्ल' अर्थात् 'समानता' रखा। ऐसा करने में उनका अभिप्राय यह प्रदर्शित करना था, कि सरदार और उनके अनुयायी सभी एक हैं; इनमें कोई छोटा-बड़ा नहीं है।

चूंकि ये दल सिख-गुरुओं के सिद्धान्त पर आधारित थे, इनका स्वरूप धार्मिक था। किसी ऐसे नेता का होना आवश्यक था जो ग्रंथ साहब के नियमों पर शासन चलाये, इसलिए समय-समय पर खालसा के मत से कोई ऐसा व्यक्ति चुना जाने लगा जो उनके इस धार्मिक राज्य की सदारत करे। उसका यह कार्य होता था कि दस गुरुओं के संकलित आदेशों पर जिसे वे 'दसवाँ बादशाह का ग्रंथ' कहते थे—समाज का शासन करे, लोगों की धर्म-शिक्षा की व्यवस्था करे, शत्रुओं से उनकी रक्षा करे और आवश्यकता पड़ने पर उनके हित में लड़ाइयाँ भी लड़े।

सैनिकों का कोई निश्चित वेतन न था। लूटपाट से जो धन प्राप्त होता उसे सरदार और सिपाही आपस में बाँट लिया करते थे। उन्हें यह भी स्वतंत्रता थी, कि वे सरदार की नौकरी छोड़कर चाहें तो दूसरे की स्वीकार कर लें। इनमें जो ज़बर्दस्त होता था वह कभी-कभी स्वतंत्र सरदार बनकर अपना अलग दल भी बना लेता था। स्पष्ट है कि ऐसी परिस्थिति में हर-एक सरदार का यह कर्तव्य होता था कि वह अपने अनुयायियों की आवश्यकता पूर्ति पर पूरा ध्यान रखे।

अस्त्र-शस्त्र के प्रयोग में निपुणता ही हर एक सिख की योग्यता का

परिचायक थी। बिना इसके न तो उसे कहीं स्थान मिलता था और न स्त्री-बच्चों या धन-सामग्री पर उसका कोई अधिकार माना जाता था। तीर और तलवार चलाने की क्षमता हर-एक के लिए परमावश्यक थी।

ऊपर जिन मिस्लों की चर्चा की गई है उनके अलग-अलग नाम थे। इनमें सबसे प्रमुख 'मालवा सिख' थे, जो किसी समय बैरागी बन्दा के नेतृत्व में थे और जिन्हें बन्दा ने एक बार विजय की प्रसन्नता में भविष्यवाणी करते हुए कहा था, कि एक समय ऐसा आयेगा जब उनका क्षेत्र मालवा की भाँति सुखी और धन-धान्य-सम्पन्न होगा। तब से ये 'मालवा सिख' कहलाने लगे थे। आरम्भ में ये जाट और गुर्जर जाति के थे और सतलज और यमुना के बीच के इलाकों में रहते थे। मालवा सिखों में सबसे अधिक बलवान पटियाला के साहिबसिंह, थानेसर के भंगासिंह, जिन्द के भागसिंह और कैथल के भलेलसिंह थे।

इनके बाद दोआबा सिख थे जो जलन्धर दोआब के रहनेवाले थे। व्यास और रावी के बीचवाले माझा सिख और रावी और चेनाब के बीच रहनेवाले घ्रपी सिख कहलाते थे। उनकी दण्ड-व्यवस्था पंचायतों के हाथों में होती थी और जुर्मों की सज़ा जेल या फाँसी नहीं बल्कि जुर्माना के रूप में हुआ करती थी। जिसकी जैसी हैसियत होती थी उससे वैसा ही जुर्माना लिया जाता था। जो रिहा होता था या मुकदमे में विजयी होता था, वह शुकाना देता था, सजा पानेवाला जुर्माना।

खून करनेवाले अपराधियों को फाँसी नहीं दी जाती थी, बल्कि उन्हें मृत-व्यक्ति के संबंधियों के हवाले कर दिया जाता था। उन्हें स्वतंत्रता होती थी कि वे उनके साथ जैसा चाहें, पेश आयें।

इन दिनों के सिखों का इतिहास उनके विभिन्न दलों या मिस्लों का इतिहास है। इन मिस्लों के सरदार स्वतंत्र शासक की भाँति थे और आगे चलकर उन्होंने काफी बल-संचय भी कर लिया था। पड़ौसी राज्य या क्षेत्रों की विजय चेष्टा में ये अधिकतर लगे रहते थे। समय-समय पर इनकी आपस में भी खूब लड़ाइयाँ हुआ करती थीं और जो पराजित होता था वह अपनी लड़की विजेता को ब्याह देता था और इस प्रकार पारस्परिक संबंध स्थापित होते रहते थे। कांगड़ा के राजाओं के साथ इनमें से कइयों का समय-

समय पर घनिष्ठ संबंध रहा—दुश्मन के रूप में या मित्र के—इसका विस्तृत वर्णन अगले परिच्छेदों में मिलेगा।

उपर्युक्त मिस्लों में जो प्रमुख थे, वे ये हैं—

१. भंगी मिस्ल—इनमें भाँग खाने की प्रथा अधिक थी, इसलिए ये भंगी कहलाते थे। सिख-मंडल के सबसे जबर्दस्त सदस्य ये ही थे।

२. रामगढ़िया मिस्ल,
३. कन्हैया मिस्ल,
४. नाकाई मिस्ल,
५. आलुवालिया मिस्ल,
६. दालिबालिया मिस्ल,
७. निशानवाला मिस्ल,
८. फैजलपुरिया मिस्ल,
९. करोरासिंधी मिस्ल,
१०. शहीद और निहंग मिस्ल,
११. फुलकिया मिस्ल,
१२. सुकरचकिया मिस्ल।

आलुवालिया मिस्ल के एक प्रतिभावान् व्यक्ति फतहसिंह ने कपूरथला राज्य की नींव डाली। वह पूरे वैष्णव, भगवान कृष्ण के परम भक्त थे। कहते हैं, कांगड़ा से वहुतेरे चितेरों को बुलाकर उन्होंनें कृष्ण-भक्ति-संबंधी सैकड़ों चित्र उतरवाये थे। महाराज रणजीतसिंह के वह समकालीन थे और उन पर महाराज का इतना अधिक विश्वास था कि वह जब कभी राज्य छोड़कर बाहर, काबुल आदि, जाते तो राज्य का संचालन उन्हीं पर छोड़ जाते थे, किंतु जीवन के पिछले दिनों में रणजीतसिंह का व्यवहार उनके साथ अच्छा नहीं रहा।

फुलकिया मिस्ल का नायक फूल नामक व्यक्ति था जो जैसलमीर (राजपूताना) से आये हुए जाट-वंश (भट्टी राजपूत) में १६१९ ई० में उत्पन्न हुआ था। इसने अपने नाम पर फूल गाँव की स्थापना की थी और इसी कारण यह मिस्ल फुलकिया मिस्ल के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह गाँव अब नाभा राज्य के अन्तर्गत है।

फूल के ही पौत्र थे आलासिंह जिन्होंने पटियाला राज्य की स्थापना थी और जिनकी चर्चा पीछे की जा चुकी है।

चौधरी फूल के बड़े लड़के तिलोका जिन्द राज्य के संस्थापक थे।

तिलोका के पौत्र ने नाभा-राज्य की स्थापना की।

गरज़ यह कि पटियाला, जिन्द और नाभा, ये तीन राज्य फुलवि मिस्ल ही की शाखायें हैं। इनके शासकों ने सिपाही-विद्रोह के दबा अंग्रेजों की पूरी सहायता की और बड़ी-बड़ी उपाधियाँ और सम्मान प्र किये।

सुकरचकिया मिस्ल इन सभी मिस्लों में सबसे अधिक महत्त्व का चूँकि इसी मिस्ल में महाराज रणजीतसिंह पैदा हुए, जिनका स्थान पं के इतिहास में सबसे ऊँचा है और जो भारतवर्ष की महान् विभूतियों में

महाराज रणजीतसिंह की वंशावली देखने से पता चलता है, कि १४ ई० के लगभग कालू नामक कोई हिन्दू जाट सांसी नाम के लुटेरों के द आ मिला, जहाँ उसकी पत्नी के बच्चा हुआ जिसका नाम जद्दोमान प जद्दो और उसके वंशजों में से कई और डाकू-सरदार के रूप में प्रकट और कालान्तर में डाकाजनी के ही सहारे अच्छी-खासी सम्पत्ति जमा ली। इसी वंश के प्रभावशाली व्यक्ति चरतसिंह के द्वारा सुकरचकिया मि की स्थापना हुई। चरतसिंह के संबंध में श्रीलतीफ ने अपनी पुस्त 'History of the Punjab' (१८९१) में लिखा है—

"Charat Singh was a man of high aims, and for m advanced ideas than his contemporaries of the misl. it was who laid the foundation of the greatness of family. By his industry, economy and perseverance, extended his estate...He appeared early in the fi as an enterprising leader, and soon rose from a comm Dharwi, or highway robber, to the sardari of a confe racy, and contributed materially to the strength of Sikh as a nation".

अर्थात् चरतसिंह एक उच्च आदर्शवाले और मिस्ल के समका

व्यक्तियों की अपेक्षा कहीं अधिक उन्नत विचार रखनेवाले व्यक्ति थे। वंश के गौरव की नींव उन्होंने ही डाली। अपने श्रम, नियमित व्यय और लगन के द्वारा अपने राज्य का विस्तार भी किया।...कम उम्र में ही वह एक साहसी नेता के रूप में प्रकट हुए और शीघ्र ही एक डाकू की स्थिति से ऊपर उठकर मंडल के सरदार बन गये। सिखों की बल-वृद्धि में और उन्हें राष्ट्र का रूप देने में उनका बहुत बड़ा हाथ था।

१७७४ में चरतसिंह की मृत्यु हुई और उनके पुत्र महासिंह मिस्ल के सरदार बने। पिता की भाँति महासिंह में भी वीरता और बुद्धिमत्ता कूट-कूटकर भरी हुई थी। पड़ोसी सरदारों के साथ—खासकर भंगियों के—उनकी जोरदार लड़ाइयाँ हुईं; इन सबमें वह विजयी हुए और जम्मू तक पर उन्होंने कब्जा कर लिया। जयसिंह कन्हैया से, जिसकी उन दिनों खूब धाक जमी हुई थी, कस कर लड़े। गर्ज़ यह कि वह एक श्रेष्ठ योद्धा, नेता और प्रतापी पुरुष थे।

जयसिंह कन्हैया के अंतिम दिन पराजय में बीते और इसका उसे बहुत शोक रहा। पर उसकी एक पुत्र-वधू थी—सदाकौर, जिसका अपने बूढ़े ससुर पर काफी प्रभाव था, विशेषतः इसलिए कि वह विधवा थी, उसका पति वीर गुरुबख्शसिंह बटाला के युद्ध में बड़ी बहादुरी के साथ महासिंह की फौज के साथ लड़ता हुआ खेत आया था। तब से सदाकौर ही एक प्रकार से सारा कार्य-भार सँभालने लगी थी। उसने देखा कि महासिंह पर विजय प्राप्त करना आसान नहीं है, असम्भव हो रहा है, इसलिए उसके साथ सम्बन्ध स्थापित करना ही श्रेयस्कर होगा। अतः उसने महासिंह के पुत्र के साथ अपनी पुत्री के विवाह का प्रस्ताव किया। ऐसा करने में सदाकौर का एक इरादा यह भी था कि वह सुकरचकिया और कन्हैया वंशों को एक सूत्र में बाँधकर ससुर के मरणोन्तर स्वयं मिस्ल की सरदारनी बन जाय।

महासिंह को विवाह-प्रस्ताव पसन्द आया, १७८६ के अन्त में महताब कौर के साथ उनके पुत्र रणजीतसिंह की शादी हो गई। १७९२ में महासिंह परलोकगत हुए। महासिंह ने अपनी माँ की हत्या की थी, इस सन्देह पर कि वह हकीकतसिंह नामक व्यक्ति के साथ फँसी हुई थी। अन्त काल तक उनके हृदय से मातृ-घात का यह शोक नहीं गया।

पिता की मृत्यु के बाद रणजीतसिंह ने मिस्ल की सरदारगीरी प्राप्त की। उस समय उनकी उम्र केवल बारह वर्ष की थी, इसलिए उनकी माँ संरक्षक बनीं पर मिस्ल के सारे कार्य उनकी सास सदाकौर के आदेशों पर चलते रहे। सदाकौर एक विलक्षण महिला थीं जिनके सम्बन्ध में लतीफ ने लिखा है—

"The wisdom and energy of this extraordinary woman, one of the most artful and ambitious of her six that ever figured in the Sikh history, conduced materially to the success of Ranjit Singh in his early exploits, and it is trully said of her that she was the ladder by which Ranjit Singh reached the submit of his power."

अर्थात् इस विलक्षण नारी की—सिखों के इतिहास में जिसके समान धूर्त और बड़े मंसूबोंवाली स्त्रियाँ इनी-गिनी ही होंगी—बुद्धि और शक्ति ने रणजीतसिंह के प्रारम्भिक जीवन के पराक्रमी कार्यों में सफलता-प्राप्ति में उन्हें काफी सहायता पहुँचाई और यह कथन कि वह वह सीढ़ी थीं जिसके सहारे रणजीतसिंह अपनी शक्ति के ऊँचे शिखर पर पहुँच पाये, सर्वथा संगत है।

सुकरचकिया मिस्ल के सरदार के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करके सदाकौर उनकी सहायता से ससुर के मरने पर कन्हैया मिस्ल की सदारत उनके दो पुत्रों—भागसिंह और निधनसिंह—के जीवित रहते हुए भी, प्राप्त करना चाहती थी, यह पीछे लिखा जा चुका है। ऐसा ही हुआ भी; १७९३ में जब जयसिंह कन्हैया मरे तो उनकी जगह सदाकौर ही को मिली और इसमें शक नहीं, कि सुकरचकिया मिस्ल की सहायता से ही उनकी यह मनोभिलाषा पूर्ण हो पाई।

रणजीतसिंह की शिक्षा-दीक्षा पर उनके पिता ने ध्यान नहीं दिया, वह लिखना-पढ़ना न के बराबर ही जानते थे। हाँ, शिकार और नौजवानी के विभिन्न शौक की चीजों से प्रेम अवश्य था, और जवानी के दिनों में जी खोलकर वह इनका प्रयोग करते रहे। नाबालिगी के दिनों में ही नकाई सरदार की पुत्री राजकौर से उन्होंने अपनी दूसरी शादी भी कर ली। १७ वर्ष की उम्र के होते-न-होते उन्होंने माँ और सास के नियंत्रण से मुक्त होकर



जयसिंह कन्हैया का दरबार



लाहौर-दरबार में महाराज संसारचन्द

स्वाधीन रूप से राज्य के सारे कार्य अपने हाथ में ले लिये और अपने पिता की भाँति अपनी माँ की, जो लायक मिश्र नामक व्यक्ति के प्रेम में फँसी हुई थी, स्वयं अपने हाथों से हत्या कर डाली। यही नहीं, जीवन में जब कभी भी इस घटना की चर्चा हुई तो उन्होंने बड़े जोरों में अपने इस कृत्य का समर्थन किया।

धीरे-धीरे रणजीतसिंह की शक्ति वृद्धि पाती गयी। पर उनके सामने जो सबसे बड़ी कठिनाई थी वह यह कि सिखों में तब न तो एकता थी, न शासन का कोई सिलसिला ही था। 'अपनी-अपनी ढपली, अपना-अपना राग' की स्थिति थी। कई मिस्लों में ये विभक्त थे और इनका तरीका बहुत कुछ लुटेरों जैसा था। लूटमार मचाते और जब किसी से मुकाबले का मौका आता तो पहाड़ और जंगलों में जा छिपते थे, खासकर जब काबुल की ओर से अफगानों की पलटन आती थी। अहमदशाह अब्दाली के पौत्र का हिन्दुस्तान में साम्राज्य स्थापित करने का स्वप्न भंग नहीं हुआ था; वार-वार वह पंजाब पर आक्रमण करता, पर अपने राज्य के पश्चिमीय भाग में अशान्ति के उपस्थित होने के कारण लौट जाता था। कई बार उसने लाहौर पर अधिकार भी किया पर उसे अधिक दिनों तक रख न सका; घरेलू उत्पातों के कारण शीघ्र ही उसे काबुल लौट जाना पड़ा।

सिखों में कोई ऐसा शक्तिशाली सरदार न था जो डटकर उसका मुकाबला करता; रणजीतसिंह तक को उसके आने पर जंगलों की शरण लेनी पड़ी, पर वह चुप बैठनेवाले या आसानी से दुर्रानी की प्रधानता स्वीकार करनेवाले व्यक्ति न थे। अतः जब वह लाहौर के कार्यों में व्यस्त था, रणजीतसिंह अन्य मिस्लों के साथ मिलकर, सुतलज के पार चले गये और जिन इलाकों से होकर गुजरे उन पर आधिपत्य स्थापित करके कर वसूलने लगे। क्रमशः सिखों में उनकी धाक जम गयी और सिख जनता उन्हें अपना सरदार मानने लगी। इससे कई मिस्ल-सरदारों के हृदय में ईर्ष्या के भाव जग पड़े। एक ने अकेले में उन पर वार करके उनका प्राण तक लेना चाहा, पर, 'जाको राखे साइयाँ, मार न सकिहें कोय' कहावत के अनुसार कोई उनका बाल बाँका न कर सका और न उनकी बढ़ती हुई शक्ति के वेग को ही रोक सका। उनके राज्य-निर्माण के सारे कार्यों में जिसका सबसे बड़ा सहयोग प्राप्त था,

वह थी सदाकौर——उनकी सास, जो उन दिनों कन्हैया मिस्ल की सरदारनी बनी हुई थीं।

रणजीतसिंह का सबसे बड़ा लक्ष्य लाहौर लेने का था। परिस्थिति भी इस उद्देश्य-पूर्ति के पूर्णतः अनुकूल थी। लाहौर में उन दिनों तीन सरदार——लहनासिंह, गुजरसिंह और शोभासिंह——शासन कर रहे थे, और ये तीनों ही शराबी, दुराचारी और निकम्मे थे। शहर की रौनक समाप्त हो चुकी थी। वह उजाड़ हो रहा था, चारों ओर त्राहि-त्राहि मची हुई थी।

रणजीतसिंह की वीरता और शासन-कुशलता की कथा सुनकर नगर-निवासियों का एक दल उनसे आकर मिला और अनुरोध किया कि वह लाहौर पर आक्रमण करें; उन्होंने यह आश्वासन दिया कि उनके नगर के पास पहुँचते ही वे चुपके से शहर का एक दरवाजा खोल देंगे ताकि वह अपनी सेना के साथ भीतर घुस पड़ें। रणजीतसिंह को यह प्रस्ताव पसंद आया पर सहसा लाहौर की ओर बढ़ चलना उन्होंने उचित नहीं समझा। अपने कुछ लोगों को वहाँ भेजकर उन्होंने वास्तविक परिस्थिति और बुलावा देनेवालों की नेकनीयती का पता लगाया और जब उन्हें इस बात का विश्वास हो गया कि उनके दिल में सचाई है तो एक दिन अपनी सास सदाकौर और उनकी सेना के साथ अपनी फौज मिलाकर ससैन्य लाहौर के समीप जा पहुँचे। नागरिकों ने फाटक खोल दिया और ये सभी बड़ी आसानी से शहर के भीतर दाखिल हो गये। ऊपर जिन तीन सरदारों का उल्लेख है वे मर चुके थे, उनके लड़के——लहनासिंह के चेतसिंह, गुजरसिंह के साहिबसिंह, सुखासिंह और फतहसिंह, और शोभासिंह के मोहरसिंह——शासन चला रहे थे, पर अपने पिताओं के पद-चिह्नों पर चलकर ही। रणजीतसिंह के आते ही सभी शहर छोड़कर नौ-दो-ग्यारह हो गये, केवल चेतासिंह बच रहा। मुकाबला भी किया पर अन्त में अपने मददगारों की नेकनीयती पर शक करके, बिगड़ी हुई परिस्थिति देखकर, उसने हथियार डाल दिये। किंतु रणजीतसिंह उसके साथ बड़े सम्मान से पेश आये; निर्विघ्न नगर छोड़ने की अनुमति ही नहीं दी बल्कि उसके और उसके परिवार के भरण-पोषण के लिए एक उपयुक्त वृति की भी व्यवस्था कर दी। लाहौर रणजीतसिंह के हाथ

में आ गया।

नगरनिवासी इस अकस्मात बदली हुई शासन-परिस्थिति से पहले तो चकित हुए, घबराये, पर रणजीतसिंह की घोषणाओं और व्यवहारों से उनके दिल में तसल्ली हुई और वे यह समझने लगे कि शासन की ओर से उनके ऊपर जो जोरोज़ुल्म चल रहे थे, उनकी अब समाप्ति हो जायेगी और वे चैन की नींद सो सकेंगे।

पंजाब के उन दिनों टुकड़े-टुकड़े हो रहे थे। वह अनेक हिस्सों मे बँटा हुआ था जिन पर कहीं तो अफगानों की—वह भी एक नहीं, अनेकों—सामन्त-शाहियाँ शासन कर रही थीं, कहीं सिख सरदारों की—और ये सभी अधिकांशतः लूट-खसोट में ही लगे हुए थे। ये रणजीतसिंह के लाहौर प्रवेश से सशंकित हो उठे और इनके दिलों में ईर्ष्या की प्रबल भावना जग उठी। पारस्परिक कलह को भूलकर सभी उनके खिलाफ एक हो गये और जस्सासिंह रामगढ़िया, गुलाबसिंह भंगी (अमृतसर), साहिबसिंह भंगी (गुजरात), जोधसिंह वजीराबादी और कसूर के निज़ामुद्दीन खाँ ने मिलकर एक संगठन किया जिसका एक मात्र उद्देश्य रणजीतसिंह से लाहौर छीनना था। १८०० ई० के शुरू में इनकी सम्मिलित सेना अमृतसर से लाहौर के लिए रवाना हुई। लाहौर से दस कोस पूर्व मौजा भासिन में इस फौज के साथ रणजीतसिंह की सेना का, जिसमें उनके अपने सिपाहियों के साथ-साथ सदाकौर की पलटन भी थी, मुकाबला हुआ। यहीं दोनों ओर की फौजों ने पड़ाव डाला। दो महीने तक ये फौजें वहाँ पड़ी रहीं पर सिवा एक-दो झिड़क के कसकर लड़ाई नहीं हुई। भंगी सरदार दिन-रात जुआ और शराब में पड़े रहे और अपने लक्ष्य को मानो भूल-सा गये। इसकी पराकाष्ठा तब हुई जबकि इनमें से गुलाबसिंह भंगी की एक रात अधिक शराब पी लेने के कारण अचानक मृत्यु हो गई। खीमे में भगदड़ मच गई और यह सोचकर कि रणजीतसिंह पर विजय पाना संभव नहीं है, विरोधी सेना ने घर का रास्ता पकड़ा। बटाला के पास जस्सासिंह के पुत्र जोधसिंह और सदाकौर में लड़ाई हुई, जिसमें जोधसिंह को बेतरह हार खानी पड़ी। लाहौर पर रणजीतसिंह का अब पूर्ण आधिपत्य हो गया। १८०१ में उन्होंने अपने को महाराज घोषित किया और अपने नाम से सिक्के निकाले जिनके

एक ओर नानक और गुरु गोविन्दसिंह के नाम अंकित थे।

इसके बाद के कई वर्ष उन्होंने शासन-सुधार और अड़ोस-पड़ोस सामन्तों पर विजय प्राप्त करने में लगाये। उनका विस्तार से यहाँ उल करना अनावश्यक होगा।

संयोगवश यही समय था जब कांगड़े के राजा संसारचन्द भी रा विस्तार में लगे हुए थे। स्वाभाविक था कि इन दोनों में कहीं-न-कहीं स होता और हुआ भी। राजा संसारचन्द की फौज ने सरदारनी सदाकौ इलाके के कुछ भागों पर अधिकार कर लिया; सदाकौर ने रणजीत से सहायता माँगी। रणजीतसिंह तुरन्त उनकी सहायता के लिए वह पहुँचे; संसारचन्द की फौज का एक छोटा-सा टुकड़ा था जो उनके की खबर सुनते ही इलाका खाली कर चलता बना। रणजीतसिंह ने नौ —जो कांगड़ा राज्य के अधीन था—पर अधिकार करके उसे सदाकौ राज्य में मिला दिया और आगे बढ़कर नूरपुर राज्य पर विजय का फहराया। संसारचन्द, जो कांगड़ा की पहाड़ियों में चले गये थे, चुप रहे

महाराज रणजीतसिंह की विजय-यात्रा जारी रही। विभिन्न सा के साथ लड़ते और उन्हें हराते हुए वह आगे बढ़ते गये। राजा संसार का जलन्धर के कई इलाकों—बिजवारा और होशियारपुर—पर कब्जा रणजीतसिंह को यह कब स्वीकार होता! उन्होंने औरों के साथ-साथ इलाकों पर भी अपने पाँव फैला डाले।

विजय-यात्रा समाप्त कर रणजीतसिंह लाहौर लौटे। कई दिन तक उ होते रहे और वह उनमें भाग लेते रहे। इसी सिलसिले में एक मुसल युवती—मोराँ—पर उनकी नज़र पड़ी और उस पर वह मोहित हो ग बात यहाँ तक बढ़ी कि वह राज्य के सारे काम-धन्धे छोड़कर रात-दिन उ ही सोहबत में बिताने लगे, और अन्त में इस्लाम रीति से उससे विवाह लिया। उसके नाम से सिक्के भी निकाले, जिसमें वह 'महाराज की अति राज्ञी' के नाम से पुकारी गयी थी।

थोड़े दिनों के बाद रणजीतसिंह का यह माया-जाल फटा और वह राज्य-संचालन में पूर्ववत् रुचि लेने लगे। उन्होंने हरिद्वार की तीर्थ-यात्र की जिसमें रानी मोराँ भी उनके साथ थी।

१८२८ में पेरिस के Royal Musuem of Natural History की ओर से मोशिए विक्टर जाकेमाँ (Victor Jacquemont) नामक एक वैज्ञानिक की नियुक्ति कई चीजों के अनुसंधान के लिए भारतवर्ष में हुई। देश के विभिन्न भागों में घूमता हुआ विक्टर जाकेमाँ १८३१ के मार्च महीने में पंजाब पहुँचा और महाराज रणजीतसिंह से मिला। बहुत देर तक उनसे बातें होती रहीं जिसके संबंध में वह लिखता है—

"उनके साथ बातें करना एक स्वप्न के समान है। वह प्रथम भारतवासी हैं जिनमें मैंने जिज्ञासा की भावना और वह भी इतने जोरदार तरीके पर, पायी। उनकी यह जिज्ञासा सारे राष्ट्र की कमी की मानोपूर्ति करती है। हिन्दुस्तान, ब्रिटेन, यूरोप, नेपोलियन, इहलोक-परलोक, स्वर्ग-नर्क, आत्मा-परमात्मा, शैतान और इसी प्रकार की हजारों बातों के संबंध में प्रायः एक लाख प्रश्न उन्होंने मुझसे पूछे होंगे।"

आगे चलकर उनकी चर्चा करते हुए उसने लिखा है, कि वह एक छोटा-सा नेपोलियन बोनापार्ट ही हैं, और इसमें सन्देह नहीं कि विदेशी यात्री के इस कथन को रणजीतसिंह के जीवन के पीछे की घटनाएँ सार्थकता प्रदान करती हैं। जिस प्रकार यूरोप की सामन्तशाहियों ने नेपोलियन के सामने सिर झुकाया था, उसी तरह पंजाब की समस्त सामन्तशाहियों को—चाहे वह मुसलमानों की हो या पटियाला और जिन्द जैसे सिखों की——उनके सामने नतमस्तक होना पड़ा था। अमीर-काबुल तक पर विजय प्राप्त करनेवाले इस योद्धा की तुलना यदि नेपोलियन से की जाय तो इसमें कोई अत्युक्ति नहीं होगी। विक्टर जाकेमाँ का यह कथन कि वह एक लघु नेपोलियन बोनापार्ट हैं भले ही उस समय अत्युक्ति रही हो, पर यह एक ऐसी भविष्य-वाणी थी जो पीछे चलकर अक्षरशः सत्य प्रमाणित हुई।

१८०८ तक महाराज रणजीतसिंह की पंजाब में पूर्ण प्रधानता स्थापित हो चुकी थी। पर इसके बाद ही उनकी अंग्रेजों से लग गयी। अंग्रेजों का कहना था, कि वह सुतलज के पूर्वीय इलाकों से आगे न बढ़ें, रणजीतसिंह इस पर राजी न हुए। ईस्ट इंडिया कम्पनी का दूत मेटकाफ उनसे कसूर में मिला, बातें कीं, पर इसका कोई नतीजा न निकला। महाराज ने उसके रहते-रहते ही सुतलज के दक्षिणी भाग पर आक्रमण कर दिया। अंग्रेजों ने इसके उत्तर

में, जब महाराज को राजी करने के उनके सारे प्रयत्न निष्फल हो चुके तो, सुतलज के पार के सभी राज्यों को एक घोषणा के द्वारा अपनी संरक्षता में ले लिया; और एक बड़ी-सी सेना उनकी पंजाब में आ पहुँची। रणजीतसिंह बुद्धिमान पुरुष थे। उन्होंने देखा कि अंग्रेजों से लड़कर वह सफल न हो सकेंगे, इसलिए अन्त में, सुतलज के दक्षिण के सारे इलाकों से उन्होंने अपनी सेना हटा ली, और अप्रैल, १८०९ की सन्धि के अनुसार सुतलज के दक्षिणी इलाके अंग्रेजों के अधीन माने गये, शेष महाराज रणजीतसिंह के।

अंग्रेज़ इस आसानी के साथ रणजीतसिंह का आधिपत्य पंजाब के बाकी हिस्सों में न मान लेते यदि उन्हें फ्रांसीसी खतरे का भय न बना हुआ होता। वह समय ऐसा था जबकि यूरोप में नेपोलियन बोनापार्ट के उत्थान का सूर्य राजनैतिक व्योम-मंडल के शिरोबिन्दु पर जा पहुँचा था, और ज़ार के साथ समझौता करके वह भारत पर आक्रमण करने की तैयारी कर रहे थे। उनके इस इरादे से घबराकर लार्ड मिन्टों ने सिखों के प्रति अपने रुख में परिवर्तन कर दिया और काबुल के नवाब शाहसुजा, फारस के शाह और लाहौर के महाराजा रणजीतसिंह के पास मैत्री स्थापित करने के उद्देश्य से अपने राजदूत भेजे। यही नहीं, रणजीतसिंह के झगड़ा मोल ले लेने के बावजूद भी अंग्रेजों ने मौका आते ही उनके साथ समझौते की सोची, युद्ध की नहीं। निस्सन्देह इसका एकमात्र कारण पूर्वोक्त परिस्थिति ही थी।

अंग्रेजों से मुक्त होकर रणजीतसिंह ने अब अपना सारा ध्यान सुतलज से उत्तर के क्षेत्रों पर लगाया और एक-एक कर सारे राज्यों को अपने अधिकार में कर लिया। रणजीतसिंह की नीति के संबंध में सैयद लतीफ के ये शब्द अक्षरशः सत्य हैं कि उनका अब एकमात्र उद्देश्य उन सभी राजाओं को अपने अधिकारगत करना रह गया। वह लिखता है—

"रणजीतसिंह की नीति थी जागीरदारी पट्टे के तरीके को बिलकुल ही समाप्त कर देना और उन सभी सामन्त और सरदारों को अपने अधीन में लाना जिनमें तनिक भी शक्ति और स्वाधीनता की भावना शेष रह गयी थी जिसका आधार चाहे उनकी सांसारिक ख्याति हो या उनके पूर्वजों की वीरोचित सुकृति। पुराने सिख-मंडल या तो उनके नियमित हड़पने की नीति के शिकार हो चुके हुए थे अथवा फुलकिया और निहंग की भाँति सुत-

लज के पूर्वीय इलाके में बसकर उनसे एक बड़ी शक्ति का संरक्षण प्राप्त कर चुके थे।" स्पष्ट है कि श्री लतीफ का बड़ी शक्ति से मतलब ईस्ट इंडिया कंपनी से है।

उन्हीं दिनों (१८१३) काबुल के दो पदच्युत अमीरों ने शाह महमूद के मारे हुए, परिवार के साथ, लाहौर में शरण ली--शाह जमाँ और शुजा-उल-मुल्क ने। रणजीतसिंह ने उनकी पूरी आवभगत की, उनके साथ सहानुभूति दिखलायी पर उनकी नज़र उस हीरे पर थी जिसे अहमदशाह मुगलों से छीनकर काबुल लेता गया था--अर्थात् कोहनूर पर। उन्हें पता लग गया था कि यह शाह जमाँ, जिसे महमूद ने अंधा कर दिया था, की पत्नी वफा बेगम के पास है। उन्होंने पहले तो इस बात से इनकार किया कि वह उनके पास है, पर अंत में रणजीतसिंह के द्वारा धमकाये जाने और असहाय अवस्था से विवश होकर उन्होंने इसे स्वीकार ही नहीं किया बल्कि उसे उन्हें देना भी मंजूर कर लिया। कहा, 'मैं इसे आम दरबार में रणजीतसिंह के हवाले करूँगा।' दरबार बैठा, घंटों दोनों बैठे रहे, पर शाह जमाँ मानो इसे भूल-सा गया हो, चुपचाप बैठा रहा, हीरे को बाहर न निकाला। इधर रणजीतसिंह की बेचैनी बढ़ती गयी, अंत में एक दरबारी द्वारा उन्होंने शाह जमाँ को इसकी याद दिलायी। निरूपाय होकर शाह जमाँ ने जेब से कपड़े के एक टुकड़े में बँधे हुए कोहनूर को बाहर निकाला और धीरे से रणजीतसिंह की ओर उसे बढ़ा दिया। रणजीतसिंह ने उसे जेब में रख लिया, और इस तरह कोहनूर पुनः एक बार भारत लौटा, पर अफसोस कि अधिक दिनों तक यहाँ रह न पाया। फिर कब, कैसे और कहाँ जा पहुँचा इसकी कथा इस देश का बच्चा-बच्चा तक जानता है।

रणजीतसिंह के काश्मीर-आक्रमण के सारे प्रबन्ध अब पूरे हो चुके थे। अतः काश्मीर पर उन्होंने चढ़ाई कर दी, कई हमले किये और अन्त में अफगानों के हाथ से इस भू-स्वर्ग को भी प्राप्त किया। जम्मू के गुलाबसिंह से इसमें उन्हें बड़ी सहायता मिली, अतः काश्मीर अन्ततोगत्वा उनके हवाले करके रणजीतसिंह ने उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रदर्शित की। रणजीतसिंह की काश्मीर-विजय की कहानी रोचक है और एक स्वतन्त्र लेख का विषय भी, पर उसका विस्तार से यहाँ जिक्र करना किते-कलाम होगा, इसलिए

इसके संबंध में यहाँ अधिक कुछ नहीं लिखा जाता है।

रणजीतसिंह से हराये गये अफगान राज्यवंश के लोगों ने ब्रिटिश भारत में शरण ली जिनके वंशज कुछ वर्ष पूर्व तक देश के कतिपय स्थानों में निवास कर रहे थे।

महाराज रणजीतसिंह एक महान् व्यक्ति थे पर उनके कई ऐसे कार्य हुए जिन्हें न्याय की तराजू पर तौलने से वे बड़े हल्के बैठते हैं। रणजीतसिंह की सम्पत्ति-संचय की उत्कट प्रवृत्ति और लोभ उनके मस्तक पर कलंक के टीका हैं। अपनी उद्देश्य-सिद्धि के लिए वह सब कुछ करने पर उतारू हो जाते थे; पर जो सबसे निन्दनीय कार्य उन्होंने किया वह सदाकौर के विरुद्ध की गई कार्यवाहियाँ थीं। सदाकौर उन सीढियों में थीं जिनसे होकर वह ऊपर चढ़े थे, उनके उपकारों से वह दबे हुए थे, फिर भी सम्पत्ति के लोभ में उन्होंने सरदारनी के वे सारे उपकार पलमात्र में भुला दिये।

बात यों हुई। १८२० में रणजीतसिंह बटाला आये और प्राय. एक मास अपनी सास सदाकौर के पास ठहरे। ऊपर से तो उन्होंने इसका कारण मन-बहलाव ही बताया, पर भीतरी बात यह थी, कि वह सदाकौर के अधिकार-गत लम्बे क्षेत्र में से कुछ हड़पना चाहते थे और उसकी बन्दिशें बाँध रहे थे।

सदाकौर की पुत्री महताबकौर का पुत्र शेरसिंह अब बालिग हो चुका था और हज़ारा के युद्ध का संचालन भी उसी ने किया था। रणजीतसिंह ने उसे चढ़ाया कि वह अपनी नानी से कन्हैया मिस्ल वाली सम्पत्ति में से एक स्वतंत्र जागीर की याचना करे, ताकि वह पिता से अलग होकर बड़प्पन के साथ स्वतन्त्र रूप से रह सके। इधर सदाकौर रणजीतसिंह से बार-बार कह रही थी, कि वह अपने इस पुत्र को राज्य के किसी भाग का अधिकारी बना दें जिससे वह एक स्वतन्त्र सरदार का जीवन बिताये, और इस तरह युद्ध में कौशल प्रदर्शित करने का उसे पुरस्कार दें। किन्तु महाराजा रणजीतसिंह के मन में चोर था, वह इसी बहाने से कन्हैया मिस्ल वाली सारी ज़मींदारी को हड़पना चाहते थे और इस इरादे की पूर्ति में सदाकौर और शेरसिंह के बीच उन्होंने काफी मनोमालिन्य भी उत्पन्न कर दिया। यही नहीं, जयसिंह कन्हैया के एक वृद्ध विश्वासपात्र कर्मचारी बैशाखासिंह—जिस पर सदाकौर भी विश्वास और भरोसा रखती थी—और सदाकौर के बीच भी झगड़ा

पैदा किया, और अन्त में १८२० के आते ही उन्होंने सदाकौर पर एक हुक्म-नामा जारी किया कि वह अपने राज्य का आधा भाग दोनों नातियों—शेरसिंह और तारासिंह[1]—के भरण-पोषण के लिए अलग कर दें। सदाकौर ने कहा—"**मैं इस आज्ञा का पालन नहीं करती, और यदि रणजीतसिंह अधिक बखेड़ा मचायेंगे तो मैं सुतलज के पार चली जाऊँगी और वधनी राज्य को अंग्रेजों के संरक्षण में रख दूंगी।**" रणजीतसिंह ने इस पर नर्म शब्दों में उनसे मिलने की अनुमति माँगी। खुशामदों से छली जाकर वह उनसे मिलने शाहदरा छावनी आयीं। रणजीतसिंह ने तब अपना रुख बदला और उनसे मजबूरन एक कागज पर आधा राज्य शेरसिंह-तारासिंह के नाम लिखवा लिया; और उन्हें कैद करके किले में रख छोड़ा। रानी एक दिन छद्म-वेश में निकल भागीं पर रास्ते में ही पुनः गिरफ्तार कर ली गयीं। इसके बाद रणजीतसिंह की फौज ने बटाला, पठानकोट आदि उनके सभी स्थानों पर अधिकार कर लिया और लाखों की उनकी धराऊ सम्पत्ति—जवाहरात आदि—भी रण-जीतसिंह ने अपने हाथों में कर ली। रानी सदाकौर ने जीवन के शेष दिन जेल में बिताये, वहीं उनकी मृत्यु भी हुई।

तीस वर्ष तक रानी सदाकौर ने पंजाब की राजनीति में भाग लिया;

---

१. इनके जन्म के सम्बन्ध में यह कथा प्रचलित है कि यह रणजीत-सिंह के वास्तविक पुत्र न थे। बात यह हुई कि जब सदाकौर ने यह देखा कि उनकी पुत्री महताबकौर के कोई सन्तान नहीं हो रही है, तो अपना प्रभाव बनाये रखने और रणजीतसिंह की दूसरी पत्नियों की संतान से राज्य को बचाने के उद्देश्य से यह घोषणा करा दी कि महताबकौर गर्भ से हैं और ९ महीने बीतते ही लोगों में यह जाहिर कर दिया कि उनके दो जुड़वाँ पुत्र हुए हैं जो आगे चलकर शेरसिंह और तारासिंह कहलाये। पर वास्तव में ये बच्चे खरीदकर मँगवाये गये थे; शेरसिंह नेहाला के एक जुलाहा के घर से, तारासिंह सदा-कौर की एक मुसलमान दासी मानकी से। महाराज रणजीतसिंह उन दिनों अनुपस्थित थे, इसलिए कार्य-साधन में कोई कठिनाई नहीं हुई। किन्तु उन्हें पीछे चलकर इसका पता लग गया पर पिता कहलाने की उन्हें भी तमन्ना थी, अतएव अपना पुत्र मानकर वह इन्हें शाहजादा ही कहते रहे।

निस्संदेह पंजाब के इतिहास की वह एक अद्‌भुत महिला हैं जिनकी बुद्धि की जितनी भी प्रशंसा की जाये, थोड़ी है । रणजीतसिंह के उत्कर्ष में उनका बहुत बड़ा हाथ था; या यों कहिए कि उनके अभ्युदय का वह सबसे बड़ा कारण थीं। उनके श्रम, तिकड़म और प्रभाव के कारण ही जीवन के प्रारम्भिक दिनों में रणजीतसिंह ने अद्‌भुत सफलताएँ प्राप्त कीं, उनकी सारी कठिनाइयों में सदाकौर उनके साथ रहीं; पर उनकी धन-पिपासा ने रणजीतसिंह की आँखों पर पर्दा डाल दिया और उन्हें इन सारे उपकारों को भुलाने में तनिक भी हिचकिचाहट नहीं हुई !

यह भी विधि की एक विडम्बना थी, कि राजा संसारचन्द और रण-जीतसिंह एक ही समय में पैदा हुए । दोनों का उद्देश्य एक बड़े साम्राज्य का निर्माण था; दोनों ही योग्य पुरुष थे और दोनों ही में यह क्षमता थी कि वे इस उद्देश्य को पूरा कर सकें। साथ ही यह भी स्वाभाविक ही नहीं, अनिवार्य था कि एक दूसरे की टक्कर में आ पड़ें। संसारचन्द पहाड़ी राजा थे और उनके पथ में कई ऐसी असुविधाएँ थीं जिनसे रणजीतसिंह मुक्त थे। पर सबसे बड़ी बात तो यह थी कि किस्मत उनके साथ न थी, नहीं तो पंजाब के इतिहास में जो स्थान आज महाराज रणजीतसिंह को प्राप्त है वह राजा संसारचन्द को होता, पर उनकी दशा उर्दू के प्रसिद्ध शायर ज़ौक की-सी थी जिन्होंने दर्दभरे शब्दों में कहा था—

किस्मत से हूँ लाचार वरना ऐ ज़ौक,
हर फन में हूँ मैं ताक़, मुझे क्या नहीं आता !

संसारचन्द में वीरता थी, साथ-साथ कलाओं के वह निपुण पारखी भी थे, पोषक थे, पर महाराज रणजीतसिंह की जाज्वल्यमान सफलताओं की घटा ने उनके अभ्युदय रूपी सूर्य पर एक पर्दा-सा डाल दिया, और उसे जो चमक मिलनी थी, वह न मिल सकी।

संसारचन्द के जालन्धर की ओर बढ़ने के बार-बार के प्रयत्न सिख-सेना के कारण असफल होते रहे, यह पीछे लिखा जा चुका है।

१८०६ में दैव-दुर्विपाक से गोरखों ने कांगड़े पर आक्रमण किया जिसके कारण राजा संसारचन्द को विवश होकर महाराज रणजीतसिंह से सहायता माँगनी पड़ी और अनिच्छा होते हुए भी भेंट में उन्हें नदौन देना पड़ा।

१८०८ में रणजीतसिंह ने जसरौता, चम्बा और बसोली राज्यों पर भी अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया, जो संसारचन्द के लिए स्पष्टतः खतरे की परिस्थिति हो गयी।

१८०९ में गुरखों के नेता अमरसिंह थापा ने पुनः कांगड़े पर आक्रमण करके कोट-कांगड़ा को अपने अधिकार में कर लिया। संसारचन्द को पुनः रणजीतसिंह की सहायता लेनी पड़ी जिसके फलस्वरूप क़िले से उन्हें हाथ धोना पड़ा। यही नहीं, कांगड़ा, चम्बा, नूरपुर, कोटला, शाहपुर, जसरौता, बसोली, मानकोट, जसवन, सिबा, गुलेर, कोलहर, मंडी, सुकेत, कुलू और दातारपुर के सभी पहाड़ी राज्यों पर उनका आधिपत्य हो गया, और इनके ऊपर देसासिंह नामक अपने एक फौजी पदाधिकारी को उन्होंने राज्यपाल नियुक्त किया; और इस तरह यमुना से लेकर झेलम तक राज्य स्थापित करने की महाराज संसारचन्द की अभिलाषा मन में ही रह गयी। उसे वह पूरा न कर पाये।

१८१२ में महाराज रणजीतसिंह ने स्वयं पहाड़ी प्रदेश की यात्रा की। कहते हैं, उपर्युक्त राजाओं से कुल १,९०,००० रुपए भेंट के रूप में उन्होंने प्राप्त किए थे।

उनकी दूसरी यात्रा १८१६ में हुई जब मंडी के राजा ईश्वरीसेन ने ६५,००० रुपए बतौर कर के और ३०,००० रुपए नज़राना के पेश किए। सुकेत के राजा ने १०,००० रुपए नज़राना में दिए। कुलू के राजा विक्रमसेन मर चुके थे; रुपए वसूल करने का यह स्वर्ण संयोग देखकर रणजीतसिंह कुलू चले गए और उनके कनिष्ठ पुत्र ठाकुरदास से १,००,००० रुपए लेकर उसे गद्दी पर बिठाया, ज्येष्ठ पुत्र चिल्लाते रहे, न्याय की याचना की, पर उनकी एक न सुनी गई।

फिर नदौन आकर अपने पुराने साथी संसारचन्द से उन्होंने भेंट की। नगरकोट त्यागकर राजा संसारचन्द अब नदौन ही में रहा करते थे। महाराज रणजीतसिंह का व्यवहार उनके साथ और पहाड़ी राजाओं की भाँति नहीं, बल्कि बराबरी का था। एक समय था जब वह महाराज रणजीतसिंह से किसी कदर कम प्रतापी नहीं समझे जाते थे और पड़ौसी राजाओं पर उनका वही रोब-दाब था जो पीछे चलकर रणजीतसिंह का हुआ; इस तथ्य

को महाराज रणजीतसिंह समझते थे और इसीलिए उनके साथ उनका व्यवहार औरों से भिन्न होता था।

महाराज रणजीतसिंह की वृद्धिगत शक्ति के सामने सभी को सिर झुकाना पड़ा। यही नहीं बल्कि उनके प्रभुत्व का सितारा उत्तरोत्तर ऊपर की ओर बढ़ता गया; यहाँ तक कि ब्रिटिश सरकार भी उनके साथ मैत्री-सम्बन्ध रखने में ही अपनी भलाई अनुभव करने लगी। गरज यह कि सुतलज से लेकर कान्धार तक उनका झंडा फहरा उठा। उन्हीं दिनों—१८३२ में—लैफ्टिनेंट बर्नस् नामक अंग्रेज उनका अतिथि बना था; रणजीतसिंह के सम्बन्ध में अपने विचार उसने इस प्रकार प्रकट किए हैं :

"रणजीतसिंह के पास से जितना प्रभावित होकर मैं उठा उतना एशिया के किसी दूसरे व्यक्ति के समीप से आज तक नहीं। उन्हें न तो किसी प्रकार की शिक्षा मिली और न कोई रहनुमा ही, फिर भी वह अपने राज्य का संचालन अद्वितीय तेज और बल के साथ करते हैं; और इतना होने पर भी वह जिस संयम के साथ अपनी शक्ति का उपयोग करते हैं उसका पूर्व के किसी लोकपाल में होना एक अनहोनी-सी घटना है।"

१८३३ में रणजीतसिंह ने पुनः अमृतसर की एक गुलबहार नामक प्रख्यात मुसलमान सुन्दरी के साथ शादी की जो आगे चलकर रानी गुल-बेग़म के नाम से मशहूर हुई। उसी वर्ष राजा संसारचन्द और बरमोदचन्द ने महाराज से भेंट की और ३१ मुहर, हाथी और घोड़ा बतौर नज़राना के दिये। रणजीतसिंह ने उनसे मिलकर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की और कांगड़ा में उन्हें ५०,००० रुपयों की एक जागीर भी दी।

अगले वर्ष शाहजादा नौनिहालसिंह की बड़ी धूमधाम के साथ शादी हुई। उसी वर्ष लद्दाख भी रणजीतसिंह के अधिकार में आया और वह चीन तक पर स्वाधिपत्य स्थापित करने का स्वप्न देखने लगे किन्तु जिसे वह साकार न कर सके। उन्हें लकवा का आक्रमण हुआ, बोली बन्द हो गयी, दान और इलाज में लाखों खर्च हुए, पूजा-पाठ का कोई इन्तहा न रहा; कुछ दिनों में ही उनकी बोली लौटी, पर सदा के लिए रोग अपना चिह्न छोड़ गया—इसके बाद वह पूरी आज़ादी के साथ फिर कभी न बोल पाये, अधिकतर हाथ के संकेतों से ही काम लेते रहे।

महाराज का स्वास्थ्य गिरता गया और अंग्रेजों के हस्तक्षेप से सिन्ध-विजय की उनकी अभिलाषा अपूर्ण रहने का उन्हें सदमा भी हुआ। अंततः २७ जून, १८३९ को उन्होंने अपनी जीवन-लीला संवरण की। उनके साथ उनकी चार रानियाँ और सात दासी-पुत्रियाँ सती हो गईं। रानियों में एक राजा संसारचन्द की उप-पत्नी की पुत्री भी थी। दासियों में कुछ ऐसी थीं जिनकी उम्र १४-१५ वर्ष से अधिक न थी, पर जिस समय वे शव के साथ-साथ चितावरोहण के लिए चल रही थीं, उनके चेहरे पर पूर्ण गाम्भीर्य था, घबराहट या शोक के कोई चिह्न न थे। डा० होनीवर्गर ने, जो वहाँ मौजूद थे, लिखा है :

"शायद इस शोकपूर्ण जुलूस को देखकर इन अभागी लड़कियों की अपेक्षा हमारे हृदय की धड़कन अधिक बढ़ी हुई थी।"

महाराज रणजीतसिंह को शेरे-पंजाब कहते हैं और इसमें शक नहीं कि वीरता में—और शायद कूटनीति में भी—उनका स्थान बहुत ऊँचा है। विक्टर जाके माँ नामक विदेशी यात्री ने, अपने एक पत्र में किसी मित्र को ठीक ही लिखा था :

"आपकी पत्रिका ने लिखा है कि अफगान बड़े वीर हैं—जिन्होंने कितनी बार भारत पर हमले किये—और बातोंबात में तीस हजार अश्वारोही सेना रणक्षेत्र में उतार सकते हैं, पर मैं इसे अत्युक्ति ही मानता हूँ। महमूद गजनी और तैमूर के दिन चले गये। अफगान लड़ने में सिखों से आज कहीं नीचे हैं···महाराज रणजीतसिंह पुरानी लोमड़ी हैं जिनकी तुलना में हमारे निपुण-से-निपुण कूटनीतिज्ञ भी अनाड़ी ही प्रतीत होते हैं।"

रणजीतसिंह उस 'स्टीम रौलर' की तरह थे जो नीचे आई हुई हर चीज को कुचल डालती है—कोई कुचल जाये, कोई बच जाये, ऐसा नहीं होता। जिस पर वह पड़े उसे परास्त करके ही छोड़ा, और सम्पति का अपहरण भी, उनके जीवन का सारा इतिहास यही कहता है। यही कारण था, कि पटियाला, जीन्द आदि के राजाओं ने अंग्रेजों से प्रार्थना की कि वे उन्हें अपने संरक्षण में ले लें। उनका कहना था, कि रणजीतसिंह 'लाल-बुखार' (Scarlet Fever) हैं, जिसे पकड़ा वह फौरन समाप्त हुआ, पर अंग्रेज तपेदिक हैं जो प्राण तो लेता है पर कुछ दिनों तक जीने देने के बाद—

इसलिए 'लाल बुखार' से 'तपेदिक' बेहतरीन है। ऐसा आतंक था लं
ऊपर इस शेर का !

राजा संसारचन्द भी बड़े ही वीर और प्रभावशाली व्यक्ति
उनकी बदकिस्मती यह थी कि वह रणजीतसिंह के समकालीन पैदा हु
परिस्थितियों के कारण उनके साथ उनकी भिड़न्त भी हो गयी, जो
वर्तमान स्थिति में अवश्यम्भावी भी थी, और उनके प्रताप का सूर्य अं
के उच्च शिखर पर पहुँचने के पूर्व ही मेघाच्छन्न हो गया। वीरत्व हं
अनेकों गुणों की खान थे वह, और सन्देह नहीं कि यदि वह किसं
काल में पैदा हुए होते तो आज इस देश के इतिहास में उनका स्थाः
भी, अत्यधिक ऊँचा होता, पर 'भाग्यं फलति सर्वत्र, न च विद्या
पौरुषम् !'

५

कांगड़ा चित्र-शैली

चित्रकला इस देश में अति प्राचीन कलाओं में है। पौराणिक-काल में यह उत्कर्षावस्था में थी, इसके प्रमाण बहुत हैं पर वे सभी पुस्तकों में हैं, चित्रों में नहीं। पौराणिक काल के बाद भी चित्रांकण इस देश की एक अति-प्रिय कला थी—इसके एक नहीं, सैंकड़ों उदाहरण हमें कवि और नाटककारों की कृतियों ही में नहीं बल्कि इतिहास और लोक-कथाओं में भी मिलते हैं। हमारे उत्तर-पूर्वीय सीमान्त असम की एक कथा का यदि यहाँ जिक्र किया जाये तो अप्रासंगिक न होगा।

पूर्वकाल में ब्रह्मदेश की ओर से असम पर अक्सर हमले हुआ करते थे। ये हमले अधिकतर अहम-वंशीय राजाओं के होते थे। एक बार असम के तत्कालीन लोकपाल और अहम-राजा के बीच समझौता हुआ जिसके अनुसार असम की तीन राजकन्याएँ अहम-राजवंश में ब्याही गयीं। कुछ दिन शान्ति से बीते पर इसके बाद अहमराज ने पुनः असम पर आक्रमण करने की सोची और इसके लिए तैयारियाँ होने लगीं। उपर्युक्त राजकुमारियों को जो अब अहमवंश की वधुएँ थीं, अपने मैके की चिन्ता हुई। वे इस प्रस्तावित हमले की खबर अपने माता-पिता को भेजना चाहती थीं पर भेजें कैसे? यदि पत्र लिखती हैं तो भेद खुलता है, चूँकि पत्रों पर सेंसर बैठा हुआ था। अंत में बहुत सोच-विचार के बाद उन्हें एक युक्ति सूझी। क्यों न कपड़े में असमी भाषा के अक्षरों के चित्र बुनकर उन्हें इसकी सूचना दे दी जाय! सो उन्होंने कपड़े बुने जिनमें होशियारी के साथ सारी बातें ऐसे ढंग से लिख डालीं कि सरसरी निगाह से ये अक्षर चित्र-जैसे लगते थे पर उनके भीतर लिपि छिपी हुई थी, और इस तरह असमवालों को हमले की पूर्व-सूचना मिल गयी और उन्होंने बचाव के सारे उपाय पहले से कर लिये।

इन राजकुमारियों में दो अधिक कलाविद् थीं, उनके नाम हेमलता और

भानुमती थे।

उच्च घरानों में प्राचीन काल में कताई-बुनाई का कितना प्रचार था, यह कथा इस बात की भी द्योतक है।

पहाड़ी प्रान्तों में नेपाल में चित्र आँकने की प्रथा सर्वाधिक प्राचीन काल से चली आ रही है। आज भी वहाँ ऐसे बहुत से प्रचीन चित्र पाये जाते हैं जो कागजों पर नहीं, भोज-पत्रों पर अंकित हैं। इन चित्रों का आँका जाना अब भी जारी है पर कलम में आज वह बात नहीं है जो पहले थी।

चित्र-कला का सबसे प्राचीन उल्लेख हमें ऋग्वेद में मिलता है, जहाँ चमड़े पर बने हुए अग्नि-देव के चित्र का उल्लेख है। इसके बाद पाणिनी, भास, कालिदास आदि महान् लेखकों और कवियों की कृतियों में उषा और अनिरुद्ध के आख्यान में चित्रलेखा के द्वारा चित्रांकण की चर्चा है जो इस बात का साक्षी है, कि पौराणिक-काल में यह कला काफी उन्नतावस्था में थी। 'विष्णु-धर्मोत्तरपुराण' के तृतीय खंड में एक प्रकरण है—'चित्रसूत्रम'—जिसमें चित्रविद्या पर बड़ी विशद् विवेचना की गयी है। इसमें अच्छे चित्र की व्याख्या इस प्रकार है :

'चित्रे सादृश्यकरणं प्रधांन परिकीर्तितम्'···चित्र में सादृश्य दिखाना ही सर्वोपरि गुण है। फिर कहा है—

'हसतीव च माधुर्य सजीव इव दृश्यते, सश्वास इव यच्चित्र तच्चित्रं शुभलक्षणम्'—अर्थात् सुन्दर वही चित्र है जिसमें माधुर्य और ओज हो, जो सजीव-सा लगे—प्राणयुक्त हो।

रायकृष्णदास के कथनानुसार प्राचीन काल में इस देश में तीन प्रकार के चित्र बनते थे—भित्तिचित्र, जो दीवारों पर बनाये जाते थे; चित्रपट, जो कपड़े और चमड़े पर बनते थे; चित्रफलक, जो लकड़ी, कीमती पत्थर और हाथीदाँत पर बनाये जाते थे। खेद है कि शुंग और गुप्त कालों के पूर्व के ऐसे चित्र आज उपलब्ध नहीं हैं। रायकृष्णदास के शब्दों में—"**इनमें से ११वीं, १२वीं शती से पूर्व के केवल भित्तिचित्र के नमूने अब प्राप्त हैं। ११वीं, १२वीं शती से चित्रित तालपत्र पोथियां और उनके इधर-उधरवाले पटरे मिलने लगते हैं। चित्रपट और भित्ति-चित्र की प्रथा अभी तक तिब्बत और नेपाल में जीवित है। चित्र-फलक की परम्परा ग्रंथ के चित्रित पटरों**

के रूप में रह गयी है। भारत में भी वल्लभ सम्प्रदाय के मन्दिरों में मूर्ति के पीछे चित्रपट टाँगने की प्रथा है, जिसे पिछवाई कहते हैं।"

राहुलजी ने अपनी पुस्तक 'सोवियत भूमि' में अफगानिस्तान में मिले हुए कुछ भारतीय मूर्ति-फलकों की चर्चा की है जो हाथीदाँत पर बने हुए हैं।

भित्ति-चित्र के सबसे प्राचीन नमूने मध्य-प्रदेश के जोगीमारा गुफा में पाये गये थे जो ऐसा अनुमान किया जाता है कि ईसा के पूर्व की तृतीय शती के बने हुए हैं। इसके बाद के उपलब्ध भित्तिचित्र अजन्ता गुफा के हैं जो शुंग[1] और कुषाण काल के (ई० पू० १०० से २०० शती) बने हुए माने गये हैं। कला की दृष्टि से अजन्ता के ये भित्तिचित्र अत्यन्त ऊँचे दर्जे के हैं। अफ़सोस! कि सदियों तक बेदेख-रेख की अवस्था में पड़े रहने के कारण बहुत-सी गुफाओं के चित्र मिट-से गये हैं, उपलब्ध २९ गुफाओं में से केवल १६ गुफाओं के भित्ति-चित्र शेष हैं; अच्छी दशा में केवल छः ही गुफाओं में। अध्यात्म-चिन्तन में हम किस तरह सांसारिक वस्तुओं को उपेक्षा की दृष्टि से देखते आये हैं, अजन्ता के दुरावस्था-प्राप्त ये भित्ति-चित्र इसके साक्षी हैं।

नं० १, २, ९, १०, १६ और १७ की गुफाओं की भित्ति और छतें सुन्दर चित्रों से अंकित हैं और संसार की इनी-गिनी अमूल्य वस्तुओं में हैं। कलम या कूची की बारीकी के साथ-साथ ये चित्र तत्कालीन भारतीय वेश-भूषा का बड़ा ही सुन्दर चित्र हमारी आँखों के आगे खींचते हैं। चित्र बोलते नहीं, पर चित्रित मुद्राओं के द्वारा अपना भाव प्रकट करते हैं, मुख्यतः हस्त-संकेतों के। अजन्ता के इन भित्ति-चित्रों में इनका पूर्ण उपयोग किया गया है जिसकी नकल हम पहाड़ी शैली के बसोली-चित्रों में, जो मुग़ल प्रभाव से अक्षुण्ण बने रहे, बड़े सुन्दर ढंग पर पाते हैं।

इसके बाद गुप्तों का समय आता है जो शूरवीरता के साथ-साथ कला की दृष्टि से प्राचीन भारतवर्ष का स्वर्ण-युग था।

गुप्तवंश का उद्भव चन्द्रगुप्त (३१९-३४० ई०) के गद्दी पर बैठने के साथ होता है। उत्तर बिहार के लिच्छिवि-वंश की एक कन्या से उसका

---

१. मौर्यों का नाश करनेवाला वंश।

विवाह हुआ और लिच्छिवियों के साथ यह संबंध गुप्त वंश के उत्कर्ष का एक बहुत बड़ा कारण बना।

समुद्रगुप्त ने समस्त भारतवर्ष पर विजय प्राप्त की; यही नहीं, अड़ोस-पड़ोस—काबुल, तुखारिस्तान, सिंहल आदि—के राजाओं ने भी उसका आधिपत्य स्वीकार किया। काबुल में तब कुषाणवंशीय राजा का शासन था।

समुद्रगुप्त कलाओं का ज़बर्दस्त पोषक था; स्वयं भी उच्च श्रेणी का कलाविद् था। उसके पुत्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के शासन-काल में कलाओं का और भी अधिक उत्कर्ष हुआ।

चन्द्रगुप्त के बाद उसका पुत्र कुमारगुप्त गद्दी पर बैठा जो मगध के नालन्दा विश्वविद्यालय के सूत्रपात का कारण हुआ। इन्हीं दिनों उत्तर-पश्चिम दिशा से हूणों का आक्रमण शुरू हुआ जो कुमारगुप्त के तनय स्कंद-गुप्त के काल में और भी घना हो गया। टिड्डी दल की तरह ये हूण पंजाब तक चले आए, पर गुप्तों द्वारा पराजय पाकर भाग चले। भारत के लिए ये बड़े दुर्दिन थे जिनसे गुप्तों ने देश को परित्राण प्रदान किया। कहते हैं, इस देश में वराह-पूजा का प्रचार गुप्त-काल में हुआ। जगह-जगह वराह भगवान के मन्दिर बन गये और सारे देश में इनकी पूजा होने लगी। इसके पीछे एक कल्पना थी, वह यह कि जिस प्रकार भगवान ने जल-मग्न पृथ्वी का वराह रूप धारण करके उद्धार किया था, उसी प्रकार गुप्तों ने इस देश का उद्धार हूणों के प्रवाह से किया। वराह की यह पूजा सांकेतिक रूप से इसी बात को ज़ाहिर करती थी। गुप्त-वंश की कई शाखाओं ने देश के विभिन्न स्थानों पर राज्य क़ायम किये। उन स्थानों पर वराह के टूटे-फूटे मंदिर आज भी विद्यमान हैं। खुदाई के द्वारा भू-गर्भ से भी मूर्तियाँ निकली हैं जिन्हें देखने से ऐसा लगता है कि ये किसी बड़े कुशल कारीगर के हाथों की बनी हुई हैं।

उत्तर बिहार में एक स्थान है—जयमंगलगढ़, जहाँ देवी का अति प्राचीन मन्दिर है। आज से बीस-पचीस वर्ष पूर्व तक यह एक घना जंगल था जो मीलों में फैले हुए, पद्म-पुष्पों से आच्छादित, जल-पक्षियों से कूजित, एक झील से परिवेष्टित था। लक्षणों से ऐसा प्रतीत होता है कि किसी ज़माने में—सदियों पूर्व—यहाँ एक बड़ा सा दुर्ग था जो कालान्तर में, संभव है किसी बड़े भूकम्प के कारण, धरणी की गोद में चला गया। कई वर्ष हुए

यहाँ भू-गर्भ से एक वराह की अति सुन्दर प्रस्तर-मूर्ति वहिर्गत हुई जो स्थानीय लोगों के बनाए हुए एक छोटे-से मन्दिर में वहीं प्रतिष्ठित है। देखने से यह साफ परिलक्षित होता है कि इस मूर्ति का बनानेवाला कोई अत्यन्त निपुण शिल्पी था।

एक दूसरी वराह-मूर्ति, जो देखने में हू-बहू एक जैसी लगती है, यहाँ से लगभग बीस मील पर एक मन्दिर में प्राचीन काल से ही अवस्थित है जिसकी सदियों से पूजा होती आयी है। जनश्रुति के आधार पर ऐसा लगता है कि किसी जमाने में गुप्तवंशीय किसी राजा का ही यह स्थान था जहाँ वराह भगवान् की पूजायें हुआ करती थीं। थाईलैंड—स्याम—सरकार के पास सुना जाता है कि ऐसे कुछ कागजात हैं जिनसे ज़ाहिर होता है कि वहाँ के राजवंश के पूर्वज या आदिपुरुष ने यहाँ से ही जाकर वहाँ राजवंश की नींव डाली थी, और इसकी पुष्टि स्थानीय जनश्रुतियों से भी होती है। बात अनुसंधान की है, पर मोटे तौर पर यह परिकल्पना संभव है, कि (१) गुप्तवंशीय या किसी लोकपाल की यह राजधानी थी, (२) इसकी कोई शाखा यहाँ से थाईलैंड को गयी और वहाँ राज्य-स्थापन में सफल हुई। प्राचीन भारत के ऐसे कई और दृष्टांत भी प्राप्त हैं जिससे यह ज्ञात होता है कि भारतवर्ष के कई राज-पुरुषों ने देश से बाहर जाकर राज्य-स्थापन किये थे, उदाहरणार्थ—कोशल का राजकुमार 'बसन-पो', जिसने तिब्बत में राज्य-वंश की स्थापना की थी और जिसे तिब्बत का प्रथम लोकपाल होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। गुप्तों के समय में भारतवर्ष का सांस्कृतिक प्रभाव दूर-दूर के देशों—कोरिया, जापान, बोर्नियो आदि—पर पूरी तरह पड़ा था, यह तो सर्वमान्य ही है।

जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, लिच्छिवियों से गुप्तवंश का घनिष्ठ सम्बन्ध था। वैशाली, जो कि लिच्छिवियों की राजधानी थी, जयमंगलगढ़ से लगभग चालीस मील पड़ती है। संभव है, गुप्तवंश की किसी शाखा के यहाँ स्थापित होने का यह भी एक कारण हुआ हो।

'क़िते-कलाम' होता है, पर इन सारी बातों के लिखने का अभिप्राय यह है कि भारतवर्ष का गुप्त-कालीन युग हर दृष्टि से समुत्कर्ष का समय था तथा गुप्तों की छत्र-छाया में संगीत, काव्य, मूर्ति और चित्र-कलाओं ने पूरा

प्रसार पाया था। अजन्ता के सबसे अच्छे चित्र इसी काल में अंकित हुए थे। यह ३३० ई० से ६०० ई० तक का काल था। कालिदास की रचनाओं का भी यही समय था। इनसे ज्ञात होता है कि चित्र-अंकन तब तक काफी परि-पुष्टता को प्राप्त हो चुकी थी और लोकप्रियता प्राप्त कर चुकी थी। चित्रों का अंकण केवल पेशेवर चितेरे ही नहीं बल्कि कुलीन वंश के स्त्री-पुरुष भी किया करते थे। प्रेमी-प्रेमिकाओं, राजप्रासादों, ऐतिहासिक घटनाओं आदि के चित्र अंकित होते और प्रस्तर मूर्तियों को रंगों से रंगते थे, जैसा कि महा-कवि के इस श्लोक से जाहिर है:

स्तम्भेषु योषित्प्रतियातनानामुत्क्रान्तवर्णक्रमधूसराणाम्,
स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति संगान्निर्मोकपट्टाः फणिभिर्विमुक्ताः।

अर्थात् विविध खम्भों में बनी हुई स्त्रियों की मूर्तियों के रंग उड़ गये हैं। चन्दन-वृक्ष की भाँति लिपटे हुए साँपों की केंचुलें निकलकर इन मूर्तियों से सट गयी हैं और वे उन स्त्रियों के स्तन ढकनेवाले कपड़ों के समान दीख पड़ती हैं।

६वीं शती के बाद भारतीय संस्कृति में एक ह्रास-सा आ जाता है जो १५वीं शती तक अपना प्रभाव डाले रहता है। इस बीच में यद्यपि चित्रकला का कोई विशेष उत्कर्ष नहीं हुआ, फिर भी वह जीवित रही और प्राचीन प्राप्य चित्रों और ग्रंथों से यह सिद्ध है कि वह प्रसार भी पाती रही। गुजरात और काश्मीर इसके दो मुख्य केन्द्र थे; पूर्व में बंगाल और बिहार। दक्षिण में तांजोर के पास सित्तनवासल नामक स्थान की गुफाओं के और एलोरा, हैदराबाद के मन्दिर के भित्ति-चित्र भी इसी काल के हैं। ये सभी उपर्युक्त कथन की पुष्टि करते हैं।

बंगाल के पाल-राजाओं के द्वारा ९वीं शती में चित्रकला को काफी प्रोत्साहन मिला। इस शैली के चित्रों में अजन्ता की नक़ल है, पर अजन्ता-चित्रों की खूबियाँ पूरी तरह इनमें नहीं आ पायीं हैं। जब हम इन्हें देखते हैं और फिर अजन्ता के सुन्दर चित्रों पर दृष्टि डालते हैं तो ऐसा लगता है मानो अजन्ता के ये चित्र हँस-हँसकर कह रहे हों—

मेरी तर्ज़े-क़लम की वे अगर तकलीद करते हैं,
खिजल होंगे, असर की भी अगर उम्मीद करते हैं।

ज़ाहिर है कि उच्च-कोटि के होकर भी ये अपने में वे खूबियाँ न ला सके जो अजन्ता के चित्रों में हैं।

गुजरात में जिस शैली ने प्रसार पाया (११०० ई० से १५वीं शती तक) उसे जैन-शैली भी कहते हैं चूंकि इस शैली के चित्र अधिकतर श्वेतांबर जैन धर्म के ग्रंथों में पाये जाते हैं। पर यह शैली न तो गुजरात ही तक सीमित रही और न जैन-ग्रंथों ही तक। वास्तव में इस देश के अधिकांश हिस्सों में —मारवाड़, मालवा, अवध, बंगाल उत्कल, वेरुल, आदि—भी इस शैली के चित्र अंकित होते रहे और जैन धर्म के ग्रंथों के अतिरिक्त 'गीत-गोविन्द', 'दुर्गा सप्तशती' और 'काम-शास्त्र' के ग्रंथों के विषय भी इन चित्रों के आधार बने, यह इस शैली के प्राप्य चित्रों से साफ-साफ परिलक्षित है। इस शैली के चित्रों के दो मुख्य लक्षण हैं—बढ़ी हुई नाक और बड़ी आँखें जिनका वर्णन रायकृष्णदास ने इन शब्दों में किया है—**"आँखें पास-पास और उनकी आकृति परवल की खड़े बल फटी हुई फांक-जैसी; जिनकी कटाक्ष-रेखा दूर तक बढ़ी हुई और पुतली अतिरिक्त छोटी; परली आँख चेहरे की सीमांत रेखा के बाहर निकली हुई मानो अलग से जोड़ी गई।"**[1]

वास्तव में हमारे देश में बड़ी और लम्बी आँखें हमेशा से प्रशंसा की वस्तु मानी गई हैं। साहित्य में तो इसका जिक्र है ही—'ज्यों बड़री अँखिया निरखि, अंखियन को सुख होत'—लोक-गीतों में भी इसकी बार-बार चर्चा है। भोजपुरी भाषा के एक लोक-गीत में आँखों की उपमा कच्चे आम की कटी हुई फांक से दी गई है।

यही नहीं, हमारे प्राचीन मंदिरों में भी जो प्रतिमाएँ हैं उनकी आँखें भी, पूर्वोक्त ढंग पर (जैसे कि जगन्नाथपुरी के मंदिर की मूर्तियाँ) बनी हुई हैं।

गरज़ यह कि बड़ी आँखों पर यह देश सदा से फिदा रहा है और इस मनोवृति के परिचायक हैं हमारे देश की प्राचीन शैलियों के चित्र जिनमें तथाकथित जैन-शैली के चित्र प्रमुख हैं। आगे चलकर राजस्थानी और बसोली शैलियों के चित्रों में हम बड़ी आँखों की पराकाष्ठा और पूर्णता पाते हैं।

---

१. भारत की चित्रकला, अध्याय ४।

भारतीय संस्कृति का पुनरुत्थान १५वीं शती से हुआ जिसे हम एक प्रकार से पुनर्जागरण काल कह सकते हैं। 'प्रकृतितः संगीत आदि के साथ-साथ चित्रकला ने भी एक नया ओज पाया और यह पूर्ण रूप से राजस्थानी शैली के रूप में प्रकटित हुई। इस शैली पर उपयुक्त जैन-शैली और अजन्ता के भित्ति-चित्रों का काफी प्रभाव है, और इनमें सोलहों आने हिन्दुपना है। सांस्कृतिक पुनरुत्थान के इस काल में संगीत की भी बड़ी उन्नति हुई और संगीत से संबंध रखनेवाले चित्र गढ़े गये। राजस्थानी शैली की प्रसिद्ध राग-माला के चित्र इसके सबसे उत्कृष्ट नमूने हैं। इस शैली के चित्रों और बसोली के चित्रों में काफी सादृश्य है। जैन-शैली के चित्रों की बड़ी आँखों में जो कमी थी उसकी पूर्ति हम राजस्थानी शैली के चित्रों में पाते हैं; इनकी आँखें केवल बड़ी ही नहीं, सुव्यवस्थित, पद्माकार और मद-भरी भी हैं। इनमें तेज और आकर्षण का पुट है।

राजस्थानी शैली का वास्तविक विकास मेवाड़ में हुआ और इसका प्रभाव निकटस्थ गुजरात के ऊपर काफी परिमाण में पड़ा। इस शैली के कतिपय श्रेष्ठ चित्र गुजरात में अंकित हुए। गुजरात के अलावा राजस्थानी शैली के और भी कई केन्द्र-स्थान थे, जिनमें जयपुर, ओरछा, बीकानेर, उदयपुर, उज्जैन और मथुरा विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

१६वीं शती के आरम्भ में मुग़ल-वंश का प्रवेश भारतवर्ष में हुआ जबकि कई लड़ाइयों के बाद बाबर के पाँव हिन्दुस्तान में जम पाये। तैमूर-वंश के रक्त में एक स्वाभाविक प्रेम संस्कृति और कला के लिए था। स्वयं तैमूर लुटेरा होकर भी कला का पारखी और संरक्षक था। तैमूर का पुत्र शाहरूख स्वयं कवि था और उसके दरबार में अनेक चित्रकार थे। गरज़ यह कि इस वंश के लोगों में चित्रकला के प्रति प्रेम आरम्भ ही से था, जोकि आगे चलकर बादशाह अक़बर और जहाँगीर में पूर्ण रूप से प्रस्फुटित हुआ। अक़बर के संरक्षण में चित्रकला का काफी अभ्युदय हुआ और मुग़ल-शैली ने, जिसकी नींव बाबर ने डाली थी, परिपक्वता प्राप्त की। अक़बर के पूर्व के सारे चित्र ईरानी कलम से अंकित किये गये थे; अक़बर के समय में इसने अपना व्यक्तित्व पाया। यह सही है कि मुग़ल शैली पर ईराक और ईरान की शैलियों की छाप है, पर साथ-साथ इस पर राजस्थानी और काश्मीर

शैलियों का भी असर कम नहीं है यह स्वीकार करना पड़ेगा। मेवाड़ के राजा कुंभ—जिसने चित्रों से सुसज्जित महल बनवाये थे—और काश्मीर का तत्कालीन बादशाह ज़ैनुलआब्दीन, जो अक़बर से भी बढ़कर भारतीय संस्कृति का पोषक था, जिसके दरबार में कहते हैं कि 'गीत-गोविन्द' के गीत प्रति दिन गाये जाते थे, के संरक्षण में उन्नत चित्र-शैलियों ने मुग़ल-कलम पर पूरा प्रभाव डाला था। अक़बर को स्वयं चित्रकला से असीम प्रेम था। उसके दरबार में केशो, लाल, माधो, जगन, महेश, हरवंश आदि अनेक निपुण हिन्दू चित्रकार पोषण पा रहे थे; यही नहीं, बल्कि वह अपने मित्रों से हिन्दू चित्रकला की भूरि-भूरि प्रशंसा भी किया करता था। अक़बर के बनवाये हुए चित्रों की हम चार किस्में पाते हैं—

(१) व्यक्ति-चित्र।

(२) ऐतिहासिक चित्र-ग्रंथ, बाबरनामा आदि।

(३) कथा-साहित्य-संबंधी चित्र, शाहनामा, शीरीं-फरहाद-दास्तान, अमीर हमजा आदि।

(४) भारतीय-ग्रंथ अथवा आख्यानों से संबंधित चित्र—रामायण, हितोपदेश, कथासरित्सागर, हरिवंश, योगवाशिष्ट, नल-दमयंती आदि।

निस्सन्देह अक़बर के द्वारा मुग़ल-शैली को बड़ा बल प्राप्त हुआ। पर इसका वास्तविक उत्कर्ष जहाँगीर के जमाने में हुआ। चित्रकला का सबसे बड़ा पोषक मुग़लों में जहाँगीर ही हुआ जो घंटों स्वयं चित्रशाला में चित्रकारों से राय-मशविरा करने में बिताया करता था। महल की दीवार चित्रों से भर गईं; ईरानी, मुग़ल, राजस्थानी, दकनी—यहाँ तक कि युरोपियन—शैलियों के चित्रों का उसने संग्रह करके कई अमूल्य एलबम तैयार किये जिन्हें 'जहाँगीरी मुरक्का' के नाम से पुकारते हैं। इनमें से कई मुरक्के आज बर्लिन के सरकारी ग्रंथागार, तेहरान के सरकारी संग्रहालय, लुभ्रे म्युजियम आदि की शोभा बढ़ा रहे हैं। मुग़ल-शैली के इनके चित्रों से यह साफ़ लक्षित होता है कि यह शैली जहाँगीर के शासन-काल में और उसकी संरक्षता में अपनी पूरी जवानी पर आ पहुँची थी। जहाँगीरकालीन इन चित्रों में दो चीजें बड़ी प्रमुख हैं और इसमें शक नहीं कि इनका वास्तविक आरम्भकर्ता जहाँगीर ही था।

१. पहली चीज चित्रों में स्वाभाविकता का समावेश है। पूर्व के मुग़ल चित्र अभिसमय द्वारा निर्धारित, रूढ़िगत हुआ करते थे। इनमें मौलिकता या नवीनता का सर्वथा अभाव था। किन्तु जहाँगीर को ही यह श्रेय प्राप्त है कि उसने मुगल-शैली के इस रूढ़िवाद पर आघात करके उसमें स्वाभाविकता का प्रवेश कराया।

२. पूर्व-जहाँगीरकालीन चित्रों के हाशिया अधिकतर शृंगार-रहित हुआ करते थे। जहाँगीर ने इसमें भी परिवर्तन किया जिसके उत्कट प्रमाण उपर्युक्त मुरक्कों के मुग़ल-चित्र हैं जिनके हाशिये विभिन्न प्रकार के फूलों और पक्षियों के सुन्दर चित्रों से सुसज्जित हैं। इन चित्रों में जो कलम की बारीकी दर्शित है वह निस्सन्देह परले दर्जे की है। हाशियों के इस चित्र-शृंगार में हलका हरा, भूरा या ललछौंह जमीन पर कहीं-कहीं बड़े ही सुन्दर प्राकृतिक दृश्य देखने को मिलते हैं जिनमें वृक्ष, पौधे और पक्षी प्राकृतिक ढंग पर बैठाये हुए हैं। इनमें कुछ ऐसे भी हैं जो तुर्की ढंग पर सुनहले फूलों से सजाये हुए हैं। यों तो पूर्व-जहाँगीरी काल के भी कुछ ऐसे चित्र पाये गये हैं जिनके हाशिये पर छिट-फुट फूल बने हुए हैं, पर जहाँगीरी मुरक्कों के चित्र-किनारों पर जिस प्रकार की भरी-पूरी स्वाभाविक, शोभन, चित्रावली है वह पूर्व के किसी चित्र में नहीं पाई जाती और इसका आरम्भ जहाँगीर के समय ही में हुआ। तुर्किस्तान आदि देशों में इसका प्रचलन अवश्य था पर इस देश में इसका प्रवेश सर्वप्रथम जहाँगीर के द्वारा हुआ। कारण स्पष्ट है। जहाँगीर ने तुर्किस्तान आदि देशों से बड़े-बड़े कुशल चित्रकार बुलवाये थे। फर्रूख बेग नामक तुर्किस्तान का एक परम विख्यात चित्रकार वर्षों तक जहाँगीर की चित्रशाला का अध्यक्ष बना हुआ था; ऐसा लगता है कि इन विदेशी चितेरों के कारण ही इसका प्रवेश मुग़ल-शैली के चित्रों में हुआ। जहाँगीर स्वयं चित्रकला का पारखी था। अतएव उसे इस सुन्दर परिपाटी को ग्रहण करने में कोई हिचकिचाहट नहीं हुई होगी। चित्रों पर अपने नाम लिखने का रिवाज भी जहाँगीर काल के उस्ताद मंसूर आदि निपुण चित्रकारों के द्वारा ही प्रचलित हुआ, ऐसा प्रतीत होता है। जहाँगीरी चित्रों में गति और सजीवता भी पूर्ण रूप से पायी जाती है जिसके बढ़िया उदाहरण शिकार के चित्र हैं। चित्रों के चेहरे अधिकतर 'एकचश्म'

हैं। गरज़ यह कि जहाँगीर-काल में मुग़ल कलम ने एक नयी मोड़ ली और जिसे हम ठेठ मुग़ल-शैली कहते हैं, वह मुखरित हुई।

१७ वीं शती में राजस्थानी शैली ने भी परिवर्तन की ओर पाँव बढ़ाया। रूढ़ियों से निकलकर सजीवता प्राप्त की, सजावट में प्राकृतिक दृश्य, पशु-पक्षी, स्थान पाने लगे। चित्रों का विषय पूर्वापेक्षा अधिक विस्तृत हो गया। नायिका-भेद, कृष्ण-लीला, प्रेम-संबंधी दृश्यों का प्रवेश हुआ।

तात्पर्य यह कि राजस्थानी शैली ने भी प्रौढ़ता प्राप्त की जिसका मुख्य कारण उसका मुग़ल-शैली के निकट संपर्क में आना था। बरौदा स्टेट म्युजियम के क्युरेटर डॉ० गेटज् के शब्दों में : "From the death of Akbar to the end of the second third of the 18th Century the Mughal style ruled uncontested in Rajasthan painting... Not only this, in many Rajput states even the artists executing those 'Rajput' paintings were Muslims."

अर्थात् अकबर की मृत्यु के बाद से १८वीं शती के दूसरे-तीसरे हिस्से तक राजस्थानी चित्रों पर मुग़ल कलम का पूर्ण ज़ोर रहा। यही नहीं, बहुतेरे राजपूत राज्यों में राजपूत-चित्रों के अंकण करनेवाले मसव्वर भी मुसलमान ही थे। अकबर के समय से ही हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों की धाराएँ एक होने लगी थीं। चित्रकला पर भी इसका प्रभाव पूरी तरह से पड़ा। १५वीं शती की मुसलमान-कला पर गुजरात और मालवा की छाप साफ-साफ परिलक्षित है। इसी तरह राजस्थानी कलम पर ईरानी और तूरानी प्रभाव भी।

शाहजहाँ के समय मुग़ल-शैली में कुछ और चीजें भी आईं, बिना रंगे हुए रेखा-चित्र बनने लगे, रंगमहल और विलासिता-सम्बन्धी चित्र, जिनका आरम्भ जहाँगीर के समय में ही हो चुका था, अधिक संख्या में अंकित होने लगे, बेगमों के चित्र भी, गतिशील चित्रों की संख्या में भी वृद्धि हुई— पर इनके बावजूद भी यह मानना ही पड़ेगा कि शाहजहाँ-कालीन चित्रों में नफासत अधिक है, मार्मिकता कम।

औरंगज़ेब को संगीत, चित्र, आदि कलाओं से स्वाभाविक चिढ़ थी, उसके जमाने से ही मुग़ल चित्रकला का ह्रास आरम्भ हो गया। उसके बाद

यह जीवित रही पर पतनोन्मुख होकर ही। मुग़लों की शक्ति धीरे-धीरे क्षीण हो चली। नादिरशाह के आक्रमण ने इस पर सबसे बड़ी चोट की जिसे सँभालने में यह असमर्थ रही। इन सारी चीज़ों का नतीजा यह हुआ कि मुग़ल दरबार के चित्रकार तितर-बितर होने लगे। इनमें से कुछ पहाड़ों में चले गये जहाँ हिन्दू राजाओं के द्वारा इन्हें संरक्षण प्राप्त हुआ। मुग़लों से पोषित ये चित्रकार अधिकतर हिन्दू थे, जैसा कि उनके नामों की सूची से प्रतीत होता है, अतएव उनको इन स्थानों में जड़ पकड़ने में कोई कठिनाई नहीं हुई।

पहाड़ों में अंकित सारे चित्रों को हम पहाड़ी शैली के नाम से पुकारते हैं पर यथार्थ में 'पहाड़ी शैली' नाम की कोई एक शैली नहीं है। इनकी कई शैलियाँ हैं जिनमें तीन मुख्य हैं—बसोली शैली, कांगड़ा शैली और गढ़वाल शैली। इनमें बसोली शैली सबसे प्राचीन है। बसोली[1] राज-परिवार से सम्बन्धित एक बड़ा रोचक किस्सा है, जो इस प्रकार है—

कहते हैं, सौन्दर्योपासक शाहजहाँ के कानों में एक बार यह भनक आई कि बसोली का राजकुमार देखने में अद्वितीय सुन्दर है। शाहजहाँ ने हुक्म दिया कि वह फौरन दिल्ली बुलाया जाय। हुक्म की तामील हुई और राजकुमार दिल्ली बुलाया गया। शाहजहाँ ने देखा, बात सच है, सुन्दरता उसमें कूटकर भरी हुई है, मानो स्रष्टा ने खास तौर पर उसे बनाया हो।

जनानखाने तक इसकी खबर पहुँची, मलका और शाहज़ादियों ने बादशाह से इच्छा प्रकट की कि वे भी उसे देखना चाहती हैं। बादशाह बड़े असमंजस में पड़े चूँकि राजकुमार बड़ा हो चुका था, जवानी के जीने तक पहुँच चुका था, किसी बाहरी आदमी—और वह भी नौजवान—को जनानखाने में जाने की इजाजत देना कायदे के खिलाफ होता था। बहुत सोच-विचार के बाद, अन्ततोगत्वा, बादशाह ने आज्ञा दी कि वह अन्तःपुर में लाया जाय पर आँखों पर पट्टी बाँधकर। बेगमों ने उसे देखा और कहा—"**सुन्दरता तो आँखों ही में होती है, इन पर तो पट्टी बँधी हुई है। हम इसके वास्तविक सौन्दर्य को किस तरह देख पाएँ?**" हार मानकर बादशाह को स्वीकृति

१. जम्मू के निकट का एक राज्य।

देनी पड़ी कि आँखों की पट्टी हटा दी जाये। ऐसा ही हुआ, मलका और शाहज़ादियों ने पूरी तरह उसके सौन्दर्य का अवलोकन किया और वे चकित रह गईं। सुन्दरता की भूरि-भूरि प्रशंसा की और राजकुमार को तरह-तरह की बहुमूल्य वस्तुएँ उपहार में दीं। बादशाह ने बसोली के राजा से असन्तुष्ट होकर उन्हें जेल में बन्दी कर रखा था। आज्ञा दी गई कि वह फौरन जेल से मुक्त किए जाएँ और सदा के लिए उन्हें अर्द्ध-स्वतन्त्र शासक करार किया और इजाजत दी कि उनके वंश के किसी राजा की यदि कोई सन्तान न हो तो उन्हें अधिकार होगा कि वे अपना उत्तराधिकारी बिना दिल्ली के बादशाह की अनुमति लिए मनोनीत कर लें। इस प्रकार राजकुमार की सुन्दरता बसोली राज्य के पुनरुत्थान का कारण बनी और कवि की यह उक्ति कि 'ज्यों बड़री अँखियाँ निरखि, अँखियन को सुख होत' सोलहों आने सच चरितार्थ हुई।

बसोली चित्र-शैली की सबसे बड़ी विशिष्टता कमल जैसी बड़ी और लुभावनी आँखों में है। ऐसा लगता है कि शायद यह भूमि 'बड़री अँखियों' के लिए सदा से मशहूर रही है और यहाँ के चितेरों ने उसे अपनी तूलिका से अमर बना दिया है। बसोली कलम के चित्र इन सुन्दर और बड़ी आँखों के कारण दूर से ही पहचाने जा सकते हैं।

रावी के तट पर स्थित बसोली एक छोटा-सा राज्य था जहाँ की चित्र-शैली पर मुग़ल कलम अपनी छाप न डाल सकी। प्रकृति का क्रीड़ा-स्थल बसोली के सम्बन्ध में श्री जे० सी० फ्रेंच के ये शब्द बहुत ही सही हैं—

"पथरीली चट्टानों की खड़ी दीवारों से परिवेष्टित, चौड़ी और तीव्र गतिशील सरिता के तट पर बसा हुआ, पहाड़ी राजप्रासादों में श्रेष्ठतम, सुन्दर, राजप्रासाद का मुकुट धारण किये, हिमालय के हिम में मढ़ा हुआ बसोली अपनी सुन्दर स्थिति के कारण पहाड़ के सप्त आश्चर्यों में एक होने का दावा बड़े औचित्य के साथ कर सकता है।"

स्पष्टतः इससे बढ़कर चित्रकला के जन्म और विकास के लिए उपयुक्त स्थान दूसरा कौन हो सकता था?

बसोली के पालवंशीय राजाओं की संरक्षता में चित्रकला ने यहाँ उत्कर्ष पाया था। इसका चार सौ वर्ष पुराना राजप्रासाद स्वयं शिल्प-कला का एक

उत्कट नमूना था जिसमें बड़े सुन्दर नक्काशी के काम, सुशोभित कन्दरे, संगतराशी के दृष्टान्त नज़र आते थे। पाँच मंजिल का इसका राजमहल पश्चिमीय हिमालय के इलाकों में 'पहाड़ों का सर्वोच्च आश्चर्य' कहा जाता था। राजा महेन्द्रपाल ने इसकी कुछ दीवारों को बसोली कलम के भीत्ति-चित्रों से सजवाया था। मदनपाल और अमृतपाल इन राजाओं में इस कला के सबसे बड़े पोषक थे। मालिनी नाम की एक राजमहिषी के आदेश पर इस शैली के अनेक उत्कृष्ट चित्र अंकित हुए थे जिनमें 'गीत-गोविन्द' से सम्बन्धित चित्र मुख्य हैं।

रानी मालिनी चित्रकला से प्रेम ही नहीं रखती थीं बल्कि स्वयं इस कला की निपुण पारखी भी थीं।

हिमालय की गोद में पली हुई इस चित्रकला पर मुसलमानी शैलियों का प्रभाव नहीं के बराबर ही पड़ा, जब कि कांगड़ा शैली पर इनकी ज़बर्दस्त छाप साफ़-साफ़ लक्षित है। बसोली शैली में हम मुग़ल नहीं, प्राचीन हिन्दू शैलियों की—खास तौर पर अजन्ता शैली की—झलक पाते हैं। चित्र बोलते नहीं पर आकृति द्वारा भाव-भंगी से, चित्रकार की कलम जिसे अंकित करती है, वे अपना भाव प्रदर्शित करते हैं। प्राचीन हिन्दू चित्रकारों ने इस तथ्य को पूरी तरह समझा था और इसीलिए इस विषय के हिन्दू-कालीन ग्रंथों में 'मुद्रा' पर काफी जोर है, विशेषकर हस्त-मुद्रा पर। इसका सबसे बड़ा उदाहरण हम अजन्ता के भित्ति-चित्रों में पाते हैं।

बसोली शैली के चित्रों का, बड़ी आँखों के बाद, यह दूसरा विशिष्ट गुण है। हाथ—खासकर अँगुलियों—के संकेत से चित्रित व्यक्ति का भाव-प्रदर्शन इन चित्रों में बड़े सुन्दर ढंग से कराया गया है। पर्सी ब्राउन के इस कथन की सबसे अधिक सार्थकता हम बसोली के चित्रों में ही पाते हैं—

"चित्रकार में यह क्षमता न थी कि वह वास्तविक भाषण का दान दे सके, पर कथित भाषा की जिन वस्तुओं से सृष्टि होती है वे सभी उन संकेतों में हैं जो उसने चित्रों को प्रदान किए थे।"

बसोली चित्रों का एक अपना व्यक्तित्व है, अन्य पहाड़ी शैली के चित्रों से वे बिलकुल ही भिन्न हैं। इनकी मुख्य विशेषताएँ ये हैं जिनके द्वारा ये आसानी से पहचाने जा सकते हैं—

१. नारि-शरीर कांगड़ा और गढ़वाली शैलियों के विपरीत, ओज से भरे हुए पुरुषवत प्रतीत होते हैं।

२. आँखें बड़ी और कमल के समान होती हैं जिनमें मादकता और आकर्षण मानो कूट-कूटकर भरे हुए हों, और वे इस प्रसिद्ध दोहे का स्मरण करा रहे हों--

अमी, हलाहल, मदभरे, स्वेत, स्याम, रतनार,
जियत, मरत, झुकि-झुकि परत, जेहि चितवत इकवार।

३. ललाट पीछे की ओर धंसा हुआ, नाक लम्बी और झुकी हुई, छोटा मुख, धंसी हुई ठोढ़ी, भरे हुए गाल।

४. हस्त मुद्राओं का पूर्ण प्रदर्शन।

५. स्त्रियों के वस्त्र पारदर्शक।

६. पुरुषों का ऊपर का अंग वस्त्र-रहित, बदन पर सिर्फ एक चादर। धोती का रंग अधिकांशतः सुनहरा और शरीर पर तरह-तरह के अलंकार।

७. सजावट में अधिक आकर्षण पैदा करने के लिए बहुधा स्वर्ण-कीट[1] के पंखों की छोटी-छोटी कतरन का व्यवहार ताकि देखने में वे पन्ना जैसे लगें।

८. पृष्ठभूमि अधिकतर समतल और तूलिका की एक ही घसीट से रंगी हुई होती है। रंग गाढ़ा पीला, गाढ़ा या हल्का हरा, लाल और चाकलेटी होता है। कभी-कभी ऊपर आकाश का किंचित अंश दर्शित रहता है जिसमें चाँद नजर आता है।

९. चित्र का किनारा अधिकतर पीला, लाल या सिन्दूरी रंग में रंगा हुआ।

१०. स्त्रियों के दो-चार बाल कपोल या गालों पर लटकते हुए।

बसोली शैली के चित्रों के ये दस मुख्य लक्षण हैं जिनसे चित्र की पहचान बड़ी आसानी से की जा सकती है। इन चित्रों के रंगों में भड़कीलापन बहुत अधिक है।

बसोली एक छोटा-सा राज्य था, इसलिए चित्रों का निर्माण एक सीमित

---

१. एक प्रकार का हरा कीड़ा।

दायरे के भीतर हुआ। यही कारण है कि आज जिस अधिक संख्या में मुग़ल, राजस्थानी, कांगड़ा और गढ़वाली शैलियों के चित्र उपलब्ध हैं, बसोली के नहीं। कुछ वर्ष पूर्व तक बसोली शैली का नाम भी इने-गिने लोग ही जानते थे, आमतौर पर यह अज्ञात ही था। चित्रकला के पारखी रायकृष्णदास का यह कथन कि इस शैली के चित्र अल्प और दुष्प्राप्य हैं, सही है।

१७वीं शती से लेकर १६वीं शती के आरम्भ तक बसोली की कलम तसवीरें उतारती रहीं। विषय, पौराणिक कथाएँ, राजाओं के व्यक्ति-चित्र, सामाजिक प्रथाएँ आदि होते थे। महाकवि जयदेव के 'गीत-गोविन्द' पर आधारित एक बड़ी सुन्दर चित्रावली प्राप्त है जिसका अंकन-काल श्री अजित घोष के विचार से १७वीं शती है। उनका यह भी मत है कि पहाड़ी शैलियों में बसोली सर्वाधिक प्राचीन है। कांगड़ा शैली और बसोली में यह अन्तर है कि जहाँ कांगड़ा में सूक्ष्माकार चित्रों के गुण विशेष हैं, बसोली में भित्ति-चित्रों के, और इसमें सन्देह नहीं कि इन पर हिन्दू प्रभाव औरों से कहीं अधिक है।

१८४६ में बसोली के अंतिम राजा कल्याणपाल को पेंशन देकर जम्मू के महाराज गुलाबसिंह ने इसे अपने राज्य में मिला लिया, और इसके साथ-साथ ही बसोली कलम की भी एक प्रकार से समाप्ति हो गई।

बसोली की अपेक्षा कांगड़ा शैली ने अधिक उत्कर्ष पाया जिसका सबसे अधिक श्रेय हमारे चरितनायक राजा संसारचंद को है। जैसा कि पूर्वोल्लिखित है, मुग़ल-दरबार का संरक्षण खोकर निकले हुए बहुतेरे चित्रकारों ने दक्षिणी हिमालय के छोटे-मोटे राज्यों में आश्रय पाया और इस प्रकार उस चित्रशैली की नींव डाली जिसे हम 'कांगड़ा शैली' के नाम से पुकारते हैं। कांगड़ा घाटी के गुलेर, तीरा-सुजानपुर और नूरपुर के राज्यों में सर्वप्रथम यह कला विकसित हुई, पीछे चलकर मंडी, सुकेत, कुल्लू, चंबा आदि रजवाड़ों में भी इसका पूर्ण प्रसार हुआ। ये चित्रकार हिन्दू थे और इनमें हर जाति के लोग थे।

पर यहाँ यह जान लेना आवश्यक है, जैसा कि श्री फ्रेंच का भी मत है कि दक्षिणी हिमालय के राज्यों में इसके काफी पहले से ही कई शैलियाँ प्रचलित थीं जिनका आधार अजन्ता, मल्लभूम और अति प्राचीन हिन्दू शैलियाँ थीं। किन्तु इनमें बारीकीपना—कलानैपुण्य—का अभाव था।


दीवाली के त्यौहार के पिछले दिन 'कुलक्ष्मी' को घर से बाहर निकालती हुई कुछ स्त्रियाँ (प्राचीन बसोली शैली)



राजा भूपसिंह, रानी गम्भीरदेवी और टीका शमशेरसिंह (कांगड़ा शैली)



शतरंज खेलती हुई रानियाँ (कांगड़ा शैली)

मल्लभूम चित्रशैली का उद्‌गम-संस्थान बंगाल था। मंडी राज्यवंश की नींव बंगाल (बांकुड़ा) से आए हुए एक व्यक्ति के द्वारा पड़ी थी। संभव है उनके साथ-साथ ही यह शैली भी यहाँ आई हो।

पीछे एक स्वतन्त्र परिच्छेद में कांगड़ा घाटी के प्राकृतिक सौंदर्य का जिक्र किया जा चुका है। धौलाधार पर्वत-श्रेणी के झरनों से सिक्त, विविध फूल और फलों से सुशोभित, वन्य पक्षी और पशुओं से भरी हुई इस घाटी से स्वभावत: इन चित्रकारों की कल्पना को काफी बल मिला और उनके चित्रों के लिए प्रकृति के ये अंग पृष्ठभूमि ही नहीं, विषय भी बने। कांगड़ा चित्रशैली के चित्रों में फलत: प्रकृति का गहरा प्रेम सन्निहित है। मेघमालाएँ, उड़ती हुई बक-पंक्ति, विध्युत्प्रभा, पहाड़, जंगल, चकोर, सारस, शेर, हाथी, कदली वृक्ष, विभिन्न पहाड़ी फूल आदि वस्तुओं का सुन्दर अंकन चितेरे के प्रकृति-प्रेम के प्रबल परिचायक हैं।

काँगड़ा शैली की खास खूबियाँ और पहचान कलम की बारीकी, रेखाओं की कोमलता, रंगों की चमक-दमक, विवरण आदि में है। गिलहरियों के बाल की बनी हुई तूलिका से चित्रकार रेखाओं को बड़ी बारीकी से खींचते थे, और इस तरह इन नाजुक रेखाओं में अलौकिक सौन्दर्य ढालते थे। जो उस्ताद होता था वह रेखाएँ खींचकर, ढाँचा तैयार करके, रंग डालने का काम अपने शागिर्दों को सौंप देता था और इस प्रकार एक दिन में कई-कई तस्वीरें उतारने में वह समर्थ हो पाता था। यही कारण है कि कांगड़ा शैली के ये चित्र इतनी बड़ी संख्या में उतर पाये हैं।

उपर्युक्त चितेरों के उतारे—अंकित किये—हुए चित्रों में नारी-सौन्दर्य का अद्‌भुत दिग्दर्शन है—खासकर स्त्रियों की मुखाकृति में, मृग-जैसे नेत्र, लम्बी नाक, गोलाकार ठोढ़ी, पुष्ट, उभरे हुए उरोज, इसकी मुख्य पहचान हैं। श्री अजीत घोष के शब्दों में : "Pictures of ladies with long, fine eyelashes, unusually lengthened and beautiful languishing eyes, straight and slightly pointed chins and fine delicate faces less oval than the Mughul ladies are a type in themsevles."

"स्त्रियों के चित्रों में भौंहें लम्बी और पतली, आँखें असाधारण लम्बी,

सुन्दर और थकी-थकी-सीं, ठोढ़ी सीधी, कुछ नुकीली, चेहरे अंडाकार—पर मुग़ल महिलाओं की अपेक्षा कुछ कम—होते हैं। ये अपना एक खास व्यक्तित्व रखते हैं।"

पर ये सारे लक्षण परिपक्व कांगड़ा कलम के हैं, अर्थात् १८वीं शती की। इसके पहले के चित्रों में रेखाएं अथवा रंगों में बारीकीपन और भड़कीलेपन का अभाव है। पर इनमें वे बीज जरूर हैं जो आगे चलकर, १८वीं शती में, पूर्ण रूप से प्रस्फुटित हुए। चित्र अधिक जानदार मालूम होने लगे, बदन में छरहरपना, रेखाओं में प्रवाह आ गया। नारी-रूप में वृद्धिगत आकर्षण। पतली कमर, लम्बी और वक्र आँखें, क्षीण गहरे रंग में रंगी हुई गात्र-दुम के आकार की कोमल—पतली अंगुलियाँ उसका सौन्दर्य-वर्द्धन करने लगीं। नारी-शरीर के ढंग में परिवर्तन आ गया। खड़ी अथवा बैठी हुई स्थिति के स्थान पर चलायमान अवस्था का चित्रांकन होने लगा। वायु-वेग से लहराते हुए उसके वस्त्र तथा उसे नियंत्रित करने की उसकी चेष्टा चित्रित नारी के सौन्दर्याकर्षण में चार चाँद लगाने लगे। इन चित्रों के विषय राज-परिवार के प्रेम-रोमांस और पहाड़ी जन-जीवन दोनों ही से सम्बन्ध रखते हैं। वह जमाना वीरता का था, राजाओं के बीच अक्सर लड़ाइयाँ हुआ करती थीं, हिंसक पशुओं के आखेट का भी अत्यधिक प्रचलन था, अतः ऐसे बहुतेरे चित्र पाये जाते हैं जिनमें राज-महिषी रण अथवा शिकार में गये हुए अपने पति के लौटने की प्रतीक्षा में शकुन मना रही है, चिन्ताग्रस्त है, काक से उनके आने की खबर लाने की प्रार्थनाएँ कर रही है, और शुभ-सम्वाद लाने पर उसकी चोंच सोने से मढ़ाने की प्रतिज्ञा कर रही है। कई चित्रों में शिकार से या लड़ाई से राजपुरुष के लौटने का दृश्य अंकित है। पति लड़ाई या आखेट से सकुशल लौटता है, पत्नी उसे देखकर आनन्दोल्लास से भर जाती है, फिर दोनों आलिंगन में आबद्ध हो जाते हैं। कई ऐसे चित्र भी प्राप्य हैं जिनमें पति के आने पर नव-विवाहिता पत्नी दासियों की उपस्थिति के कारण लाज से भर उठती है और मुंह कपड़े से ढँक लेती है या फेर लेती है। किसी-किसी चित्र में राजा और रानी रति-क्रीड़ा में लीन दिखाए गये हैं। किसी में नायिका किसी प्रौढ़ा के द्वारा नायक के शयन-कक्ष की ओर, लाज से लदी हुई, ले जाती हुई दीख पड़ती है। किसी में

राजदरबार के दृश्य अंकित हैं। जन-जीवन से सम्बन्धित चित्रों में कहीं यात्री पेड़ों के नीचे विश्राम कर रहे हैं, कहीं छोटी-छोटी पहाड़ियों में गऊएँ चर रही हैं, कहीं साधु पर ग्रामीण स्त्री-पुरुष पूजा चढ़ा रहे हैं, कहीं प्रोषित-भर्तिका काक से कुशल-सम्वाद पूँछ रही है।

काक से प्रवासी प्रियजन के आने की पूर्व-सूचना प्राप्त करने की परिपाटी इस देश के कई हिस्सों में अतिप्राचीन काल से रही है। देखिए, कांगड़े की एक नायिका किन अधीर शब्दों में काक से कहती है—

जाँ ह्याडी आस सपुरण हो गताँ सुने रूपे थुआड़ी चुँज मढ़ायाम्
मोपला घीउ गुड पाई भला भले चुरीया दी तुकी चोग चुगायाम्।
जीते घड़ी तुला राम मिले मेकी जिते घडी घडी ईक ना लायाम्,
ते जे दीषी करी कंत ह्याडा घरे आंउदा अज्जंतां उडरं कायाम्।

अर्थात्, काग रे, यदि तेरी बातों से मेरी मनोकामना पूर्ण हुई तो मैं तेरी चोंच चाँदी से मढ़ा दूंगी। चीनी-घी मिलाकर खीर भी खिलाऊँगी। जब तक मैं जिन्दा हूँ मुझे तुलाराम (नायक) का दर्शन करा दे···यदि मेरे प्रियतम को तूने आते देखा हो, तो मकान की छत पर से जा, उड़ जा।

अन्यत्र दिये गये एक प्राचीन चित्र में नायिका ऐसी ही कुछ बातें काग से कह रही है।

मतलब यह कि सामाजिक जीवन की सभी घटनाओं पर कांगड़ा के चितेरों ने चित्र अंकित किये हैं।

कृष्ण-लीला आदि पौराणिक आख्यान और नायक-नायिकाओं के भी बड़े ही सुन्दर चित्र कांगड़ा शैली के चित्रों में पाये जाते हैं। प्रेम-विषयक चित्र जैसे सुन्दर कांगड़ा कलम के मिलते हैं और जिस बहुतायत से, वैसे अन्य शैली के नहीं। और न ऐसा सुन्दर नारी-शरीर-सौष्ठव ही कहीं नज़र आता है। ये चित्र हिन्दू नारी के प्रेम के गीति-काव्य हैं जिन्हें कवि की लेखनी ने नहीं, चितेरे की कलम ने अंकित किये थे। रोमांस से परिपूर्ण इन चित्रों में कोमलता है, माधुर्य है और गति है।

कांगड़ा-कलम के चित्रों के सम्बन्ध में श्री कुमार स्वामी के इन शब्दों से उपर्युक्त बातों की पुष्टि होती है—

"On the whole, Kangra style is picturesque and

romantic. The figures are now more animated, the lines more nervous and fluent, their eyes very long and curved and the deep-dyed fingers are delicate and tapering, colours attain to a wonderful glowing brilliancy, preserved from hardness by its depth and luminosity. The brush-work exhibits a remarkable facility and felicity."

कांगड़ा की कलम में भड़कीलापन है और रोमांस है। रूपों में अधिक सजीवता, रेखाओं में अधिक प्रवाह है। नारियों में लचक और पतलापन है। उनकी आँखें लम्बी और वक्र हैं। घनी रंगी हुई उनकी अँगुलियाँ कोमल, शुंडाकार हैं।...कूची में अद्भुत सुगमता है और उसमें आनन्द के चिह्न नज़र आते हैं।

यद्यपि यह सही है कि कांगड़ा शैली और राजस्थानी में घनिष्ठ संपर्क है, पर इनमें कुछ ज़बर्दस्त भिन्नताएँ भी हैं। केशव, भूषण आदि कवियों की तरह राजस्थानी कलम में भी अलंकार, रंगों का चटकीलापना आदि विशेष हैं, स्वाभाविकता कम, पर कांगड़ा-चित्रों में यह अधिक है और वे भावमूलक भी हैं। फिर भी, यह तो मानना ही पड़ेगा कि १८वीं शती के आरम्भिक दिनों में राजस्थानी कला ने पहाड़ी कला पर कई दृष्टियों से काफी प्रभाव डाला था। लड़ाई-झगड़ों से मुक्ति पाये हुए राजस्थान के लिए इस काल के ५०-६० वर्ष बड़े शांति के थे। फलत:, कलाएँ इस बीच वहाँ खूब विकसित हुईं। किन्तु इसके बाद ही मराठों का प्रवेश हुआ और शांति-भंग के साथ-साथ कलाओं का विकास भी रुक गया।

श्री जे० सी० फ्रेंच का मत है कि प्राचीन भारतीय शैली के साथ सम्बन्धित होकर ईरानी शैली ने मुग़ल शैली को जन्म दिया। मुग़ल शैली मृत्यु के पहले पहाड़ों की प्राचीन हिन्दू संस्कृति से सम्बन्ध स्थापित करके, पहाड़ी शैली के रूप में अपनी संतान छोड़ती गई। १८वीं शती में यह पूर्ण रूप से फूलती-फलती रही। इस शैली के कुछ अत्यन्त उत्कृष्ट चित्रों का अंकन कांगड़े में हुआ। पर कांगड़े के महाराज संसारचन्द के साथ-साथ ही इसकी भी समाप्ति हो गई जैसे कि शाहजहाँ के साथ-साथ उत्कृष्ट मुग़ल शैली की।

उनके शब्द इस प्रकार हैं—

"Mogul Art was born of the marriage of Persian Art, with its calligraphic line and brilliant decorative sense, with the old art of India. Mogul art, before it died, in turn had a child, this Himalayan Rajput art which is a bend of the mogul style and the old primitive Hindu culture of the Hills....This Himalayan Rajput school flourished throughout the 18th century and some of its finest work was done in the Rajput states of the Kangra valley. It concluded in the reign of Sansar Chand, Maharaja of Kangra....In art the period of Sansar Chand represents the close of the great Rajput Hill School. As the reign of Shah-Jahan marks the end of the grand Mogul style, so the sway of Sansar Chand sounds the finish of its brilliant Himalayan successor."

किन्तु श्री लारेंस बिनयन, श्री फ्रेंच के इस विचार से कि कांगड़ा शैली मुग़ल क़लम की संतान है, सहमत नहीं हैं। वह कहते हैं—

"Kangra drawings are derived from wall-painting.... But it would be a mistake to imply that the Kangra artists derived their style from their contemporaries of the Mogul school. Their style is their own, and retains its affinities with the earlier art."

अर्थात् 'कांगड़ा के चित्रों का आधार भीत्ति-चित्र हैं।...यह कहना कि कांगड़ा के चित्रकारों ने मुग़ल शैली पर अपनी शैली गढ़ी, बिलकुल ग़लत है। उनकी शैली अपनी है और प्राचीन चित्र-शैली से उनका सादृश्य है।' आगे चलकर ऐसा लगता है, कि श्री फ्रेंच को भी अपने विचार बदलने पड़े चूंकि अन्यत्र वह लिखते हैं कि इसमें सन्देह नहीं कि कांगड़ा के चित्र भीत्ति-चित्रों पर अवलम्बित हैं और इस दृष्टि से ये मुग़ल चित्रों से, जिनके आधार ईरान की पुस्तक-चित्रावली हैं, भिन्न हैं। थोड़े में यह कहा जा सकता है कि मुग़ल

चित्र छोटी आकृति के चित्रों के बड़े रूप हैं, कांगड़ा भीत्ति-चित्रों के छोटे रूप। वह लिखते हैं—

"There can be no doubt that Kangra-painting is derived from wall-painting, and that the Kangra miniature is merely a reduced fresco. In this it is the opposite of the Moghul-painting which has its origin in the Persian art of book-illustration, the illumination of manuscripts. In a word, a Moghul-painting is an enlarged miniature, a Kangra-painting is a reduced fresco."

श्री कुमार स्वामी के विचार भी कुछ ऐसे ही हैं। उनके मत से 'हिन्दू चित्रकला मंदिर, राजप्रासाद और सार्वजनिक इमारतों की दीवारों से निकली हुई है, जहाँ अब भी इसके चिन्ह वर्तमान हैं।'

कांगड़ा चित्रकला का प्रथम अभ्युदय गुलेर में १८वीं शती में हुआ। यूं तो पश्चिमी हिमालय के प्राय: ३७-३८ राज्यों में चित्रकला ने पोषण पाया पर आरम्भ में सबसे अधिक इसकी पुष्टि गुलेर में ही हुई और यहीं से यह शैली कांगड़ा में आई। कहते हैं, बसोली के कई निपुण चित्रकारों ने गुलेर जाकर संरक्षण प्राप्त किया था और शायद यही कारण है कि आदि-कांगड़ा-चित्रों पर बसोली-क़लम की छाप दिखलाई पड़ती है। गुलेर की स्थापना १४०५ ई० में जिस कारण से हुई वह इस पुस्तक में अन्यत्र वर्णित है। गुलेर के संस्थापक कांगड़ा की राजगद्दी छोड़कर यहाँ आये और इस नये राज्य की उन्होंने नींव डाली। परिवार में वह सबसे बड़े थे, इसलिए कांगड़ा की इस शाखा का स्थान पहला माना गया। दोनों ही कटोच-वंश के थे, पर बड़ी शाखा होने के कारण गुलेर के नेतृत्व में ही कांगड़ावाले चलते रहे। यही नहीं, मुग़ल बादशाहों से गुलेरवालों का संपर्क अधिक घनिष्ठ रहा, फलत: कला और संस्कृति ने, जिसका दिल्ली उन दिनों केन्द्र बनी हुई थी, गुलेर में जो समतल क्षेत्रों के अधिक निकट पड़ता था, अधिक प्रसार पाया। संयोगवश यहाँ के शासक कई पीढ़ियों तक कला के प्रेमी होते रहे और गुलेर की राजधानी हरिपुर कांगड़ा 'कला का केन्द्र' बना रहा। राजा गोवर्धनसिंह के शासन-काल में चित्रकला को गुलेर में सबसे अधिक पोषण प्राप्त हुआ।

पर १७७३ में गोवर्धनसिंह का देहान्त हो गया और प्रकाशसिंह गद्दी पर बैठे। प्रकाशसिंह में अपने पूर्वजों के कला-प्रेम की कमी होने के कारण गुलेर राज्य के संरक्षण में फूले-फले हुए मसव्वरों ने चम्बा और कांगड़ा की राह पकड़ी। चम्बा के तत्कालीन राजा राजसिंह (१७६४–६४) में वीरता और कलाओं के प्रति प्रेम था, अतः चम्बा चित्रकला का एक बढ़िया-सा केन्द्र बन गया। दूसरा केन्द्र-स्थान कांगड़ा बना जहाँ राजा घमंडचन्द के द्वारा इस कला की नींव पड़ चुकी थी। १७७४ में वह इस संसार से विदा हो गये। उनकी मृत्यु के एक वर्ष के भीतर ही पिता की मृत्यु हो जाने के कारण, छोटी उम्र में ही, संसारचन्द गद्दी पर बैठे। चित्रकला के वह सबसे महान् पोषक थे। कांगड़ा-चित्रशैली को उन्नति और पूर्णता की चरम सीमा पर लाने का श्रेय उन्हें ही प्राप्त है। बारह-तेरह साल की उम्र से ही उन्हें चित्रों की परख हो गई थी। कई ऐसे चित्र प्राप्य हैं जिनमें इस छोटी उम्र में ही वह चित्रों का निरीक्षण करते हुए दिखलाई पड़ते हैं।

राजा संसारचन्द के संबंध में पंजाब का इतिहासकार गुलाम मुही-उद्दीन ने लिखा है—

"गुणी व्यक्तियों का झुंड कांगड़ा पहुँचता और उनके द्वारा पुरस्कृत होकर उनकी कृपा प्राप्त कर आनन्द-लाभ करता था।...खेल दिखानेवाले और कथाकार इतनी संख्या में उनके पास पहुँचते और इस कदर उनसे इनाम पाते थे कि वह उस जमाने के हातिम कहे जाने लगे थे—दानशीलता में रुस्तम।"

स्वाभाविक था कि ऐसे गुणग्राही जन के द्वारा चित्रकला एवं चित्रकारों को पूर्ण संरक्षण प्राप्त होता। राजा संसारचन्द को चित्र-विद्या से खासतौर पर प्रेम था, जैसा कि तत्कालीन विदेशी यात्री मूरक्राफ्ट ने अपने यात्रा-विवरण में भी लिखा है। उनका दरबार चित्रकारों से भरा रहता था। यही नहीं, चितेरों के अनेक परिवार कांगड़ा आकर स्थायी रूप से बस भी गये थे। प्रतिदिन दरबार में ये चित्रकार अपने अंकित चित्रों को लेकर उपस्थित होते, संसारचन्द उनका निरीक्षण करते और उन्हें अपने सुझाव देते थे। अच्छे चित्रों का, प्रकृतितः उनके पास एक बड़ा-सा भंडार बन गया

था। इस संग्रह के न जानें कितने चित्र आज संसार के विभिन्न चित्रशालाओं की शोभा बढ़ा रहे हैं।

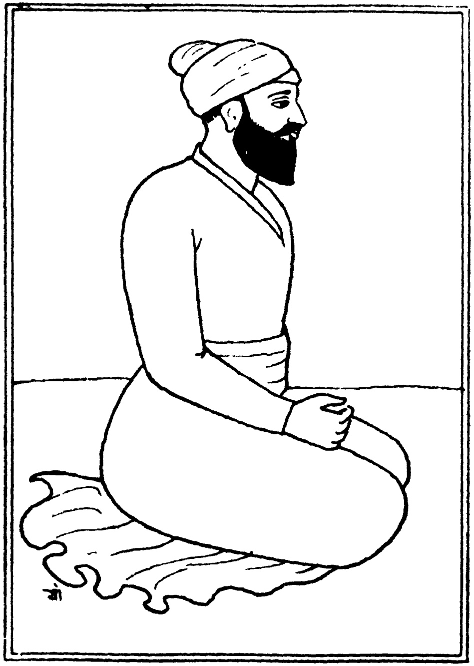
कांगड़ा-चित्रों के चितेरे चित्रों पर अपना नाम नहीं देते थे और इसलिए इस बात का पता पाना कि उनके दरबार के कौन-कौन से प्रमुख और प्रवीण मसव्वर थे, कठिन है। फिर भी, स्थानीय चित्रकार-परिवारों के प्राचीन कागज़ातों, किंवदन्तियों आदि के आधार पर इस संबंध में कुछ बातें मालूम हुई हैं जिनसे ऐसा प्रतीत होता है, कि कुशानलाल, बसिया, फत्तू और पुरखु नाम के चार चित्रकार उनके दरबार के प्रमुख चितेरे थे। इनमें पुरखू सबसे निपुण था जिसके संबंध में बेडन पावेल ने लिखा है, कि वह राजा संसारचन्द कटोच के यहाँ रहता था और उसके चित्रों में हाथ की सफाई और कोमलता का अद्भुत प्रदर्शन है।

बसिया नामक एक पहाड़ी चित्रकार ने राजा संसारचन्द के कई सुन्दर चित्र उतारे थे। उसके प्रपौत्र लक्ष्मणदास का ज़िक्र श्री फ्रेंच ने किया है जिससे उनकी भेंट सलौटी में हुई थी।

पद्मू और दोखू नाम के दो और चित्रकार भी कांगड़ा-दरबार के कुशल चित्रकारों में थे। इनके अलावा भी दर्जनों चित्रकारों ने कला के प्रेमी राजा संसारचन्द के द्वारा आश्रय पाया होगा जिनके नाम अज्ञात हैं। कांगड़ा के समलोटी नाम के एक गाँव में गुलाबूराम नाम का एक चित्रकार अभी भी कांगड़ा शैली के चित्र अंकित किया करता है। उसके पास पूर्वजों के, जो राजा संसारचन्द के दरबार के चितेरे थे, बनाये हुए बहुतेरे ऐसे चित्र हैं जो अपूर्ण हैं, पर उच्च कोटि के हैं। उसका कहना है कि रंग-मिश्रण के कई अद्भुत नुस्खे उसके पूर्वजों के पास थे जो उसे भी मालूम हैं। वह अपनी वंशावली इस प्रकार देता है—



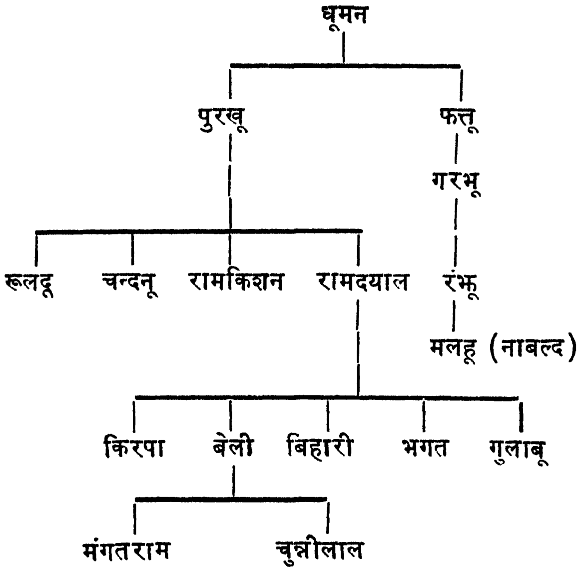
आखेट से लौटे हुए पति के अचानक सामने आ जाने पर
शर्माती हुई एक राजवधू (प्राचीन कांगड़ा शैली)



खुशाला



माणक



पुरखू का पिता धूमन गुलेर का रहनेवाला था जो पीछे चलकर कांगड़ा के समलोटी गाँव में आकर बस गया। वास्तव में कांगड़े के अधिकांश चित्र-कारों के पूर्वज गुलेर, जो एक जमाने में चित्रकला का मुख्य केन्द्र था, से आकर कांगड़ा में बसे थे और कला के सर्वश्रेष्ठ पोषक राजा संसारचन्द का आश्रय प्राप्त किया था। गुलेर के चित्रकारों में पंडित शिव काश्मीरी ब्राह्मण थे जो, मुसलमान शासकों के द्वारा, जब हिन्दू सैकड़ों-हजारों की संख्या में इस्लाम ग्रहण करने को विवश किये जा रहे थे, भागकर गुलेर चले आये। उनके वंश ने बहुतेरे सिद्धहस्त चित्रकारों को जन्म दिया था जिनमें ख्याति-प्राप्त चित्रकार खुशाला, माणक और नैनसुख के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके वंशज आज भी वर्तमान हैं, पर उनकी यह शिकायत है कि आज उन्हें पूछनेवाला कोई नहीं है। ये आज शहर कांगड़ा में नहीं; गुलेर, सुलतानपुर, नदौन और आलमपुर में रहते हैं।

प्राचीन हिन्दू और मुग़ल-कलमों के सम्मिश्रण से जन्मी हुई चित्रकला

ने कांगड़ा-शैली में पूर्णता और महानता प्राप्त की जिसका सर्वोच्च अभ्युदय राजा संसारचन्द के शासन-काल में हुआ जो चित्रकला के वैसे ही पारखी थे जैसे शाहजहाँ जवाहरातों के। लारेंस बिनयन ने कांगड़ा चित्रकला की चर्चा करते हुए लिखा है कि यूनान की कलश-चित्रावली अथवा जापान के खाका चित्रों में अन्य आकर्षण भले ही हों पर कांगड़ा के चित्र संसार की कला में एक अपूर्व स्थान रखते हैं जिनका हमारे ऊपर वैसा ही असर होता है जैसा कि हमारे अर्थात् इंग्लिस्तान के 'बैलेड' (विरहा-जैसे) काव्य का—"The drawing on Greek vases; the design of Japanese prints, may have other fascinations and be riches in resources, more vigorous and varied, but in the art of Kangra there is a frankness and abaudon, a spontaneous directness, which affects one like some of our own ballad poetry."

संसार की कलाओं में, बकौल बिनयन के, कांगड़ा चित्रकला का स्थान अद्वितीय है; और निस्सन्देह इसका सबसे बड़ा श्रेय संसारचन्द को है। उनकी संरक्षता में ही कांगड़ा-कलम ने गति, नियम और प्रामाणिकता प्राप्त की। प्राकृतिक दृश्यों के अंकन में समृद्धि हुई तथा पक्षी, सर-सरिताएँ, केला आदि फलों के पौधे तथा पुष्पित वृक्ष, प्रेम-रत नायक-नायिकाओं के सहायक बने तथा लाक्षणिक रूप से प्रेमाकर्षण में इजाफा लाने के लिए उनका उपयोग होने लगा।

राजा संसारचन्द की दो पुत्रियों का विवाह टिहरी-गढ़वाल के राज-परिवार में हुआ। इन राज-कन्याओं के साथ-साथ अनेकों चितेरे भी गढ़वाल गये और उस शैली की नींव डाली जिसे हम कांगड़ा-शैली से प्रभावित गढ़वाली शैली कहते हैं। पर इसके पूर्व से ही टिहरी-गढ़वाल चित्रकला का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र बना हुआ था। वास्तव में इस कला का वास्तविक प्रवेश या जन्म वहाँ शाहजादा दारा-शिकोह के पुत्र सुलेमान शिकोह के द्वारा हुआ जिसने १६५८ में दिल्ली से भागकर गढ़वाल में शरण ली थी। उसके साथ-साथ मुगल-दरबार के दो प्रसिद्ध मसव्वर शामदास[1] और उसका पुत्र हरदास

१. शामदास का पिता बनवारीदास शाहजहाँ के दरबार का प्रसिद्ध मसव्वर—चित्रकार—था।

गढ़वाल आये और चित्रकला की नींव डाली। गढ़वाल शैली के सर्वोच्च उस्ताद मसव्वर भोलाराम शामदास के ही वंशज थे, शायद चौथे पुश्त में थे।

गरज़ यह कि राजा संसारचन्द की पुत्रियों के साथ जब कांगड़ा के कुछ प्रवीण चित्रकार गढ़वाल आये तब चित्रकला को वहाँ काफी समुन्नत अवस्था में पाया। उन्होंने इतना ही किया कि प्रचलित शैली पर कांगड़ा-शैली की मुहर लगा दी। यही कारण है कि आज गढ़वाल और कांगड़ा शैलियों के चित्रों के बीच इतना घनिष्ट सादृश्य नज़र आता है।

कांगड़ा शैली की, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पूर्णता राजा संसारचन्द के संरक्षण में हुई और इस शैली के अधिकांश अच्छे चित्र उन्हीं के समय के हैं। रामायण, महाभारत, दुर्गा-सप्तशती, गीत-गोविन्द, श्रीमद्‌भागवत, हरिवंश और शिवपुराण आदि से संबंधित चित्र उनके दरबार में अंकित हुए थे, साथ-साथ बहुतेरे ऐतिहासिक चित्र और व्यक्ति-चित्र भी। पहाड़ों के भीतर फैले हुए कटोच-साम्राज्य का, जिसके वह संस्थापक थे, अवसान उसी दिन शुरू हुआ जिस दिन नगरकोट का ऐतिहासिक क़िला महाराज रणजीतसिंह के हाथ आया और पहाड़ों पर लाहौर दरबार का आधिपत्य स्थापित हुआ। कटोच-राज्य का सूर्य अस्ताचल की ओर बढ़ चला और १८२३ में राजा संसारचन्द के परलोकगमन के साथ-साथ अस्तंगत हो गया। इसके साथ ही उन्नत कांगड़ा चित्रशैली का भो अवसान हो गया। विकृत कांगड़ा-शैली सिख-दरबार की दासी के रूप में रह गई।

अनिरुद्धसिंह ने जब महाराज रणजीतसिंह की बात सुनी और सपरिवार कांगड़ा त्याग दिया तब शिमले के करीब अर्की नामक स्थान में आकर उन्होंने घर बनाया। उनके वंशज अब भी वहाँ बसते हैं। अर्की में कांगड़ा-कलम के कुछ भीत्ति-चित्र स्थानीय मन्दिर में हैं। ऐसा लगता है कि अर्की और शिमले में कांगड़ा के कुछ चित्रकार, जिनके पूर्वज अनिरुद्धसिंह के साथ आये हों, काफी दिनों तक कांगड़ा-शैली के चित्र उतारते रहे। राजा संसारचन्द के पास चित्रों का बहुत बड़ा भंडार था जो उनके बाद मुख्यत: उनके छोटे भाई फतहचन्द और उनकी गद्दन रानी से उत्पन्न लड़के योधवीर के हाथों आया। इनके वंशजों ने इन्हें धीरे-धीरे बेच डाला और ये चित्र आज अधिकांशत: बोस्टन, लुभ्रे आदि विदेशी चित्र-संग्रहागारों में रखे हुए हैं।

१८वीं शती में कांगड़ा-कलम का गहरा प्रभाव उत्तर में कश्मीर, दक्षिण में गढ़वाल और पश्चिम में लाहौर अर्थात् सिख-शैलियों पर पड़ा। श्री जे० सी० फ्रेंच ने लिखा है--"**१८वीं शती में कांगड़ा-चित्रकारों की पटियों पर मानो उषा-काल और इन्द्रधनु के रंग थे और इसमें सन्देह नहीं, कि उनकी तूली ने इन रंगों का बड़ा सुन्दर प्रदर्शन किया था। उनके अंकित चित्रों की पुरुष-मुखाकृति से वीरता और स्त्री-मुखाकृति से अद्वितीय सौन्दर्य और लाज-शीलता टपकती है। इन्हें देखकर ऐसा लगता है कि हम किसी जादू के संसार में आ पड़े हैं।**"

श्री फ्रेंच के कथनानुसार इस देश की वर्तमान चित्र-शैलियों पर भी कांगड़ा-कलम का प्रभाव बहुत है। आधुनिक चित्रकारों का यह प्रयत्न रहा है, कि वे अपने चित्रों में कांगड़ा-शैली की महीन रेखा, आकृति, रंग और भाव का समावेश करें; और निस्सन्देह इसमें कइयों को काफी सफलता भी मिली है। श्री अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के चित्र इस कथन की पुष्टि करते हैं।

चित्रकला को इस देश में सदा से श्रेष्ठ स्थान मिलता रहा है। श्री विष्णु धर्मोत्तरपुराण, जिसकी चर्चा इस लेख के आदि में की जा चुकी है, में लिखा है—

यथा सुमेरूः प्रवरो नगानां,
यथाराऽजानां गरूडः प्रधानः,
यथा नराणां प्रवरः क्षितीश—
स्तथा कलानामिह चित्रकल्पः।

—जैसे पहाड़ों में सुमेरु श्रेष्ठ है, विहगों में गरुड़ प्रधान है, मनुष्यों में लोकपाल प्रवर है, उसी भाँति कलाओं में चित्रकला सर्वोपरि है।

महाराज संसारचन्द ने इस सर्वोपरि कला को संरक्षण देकर कलाओं के इतिहास में अपना नाम अमर कर लिया—इसमें न तो सन्देह है, और न अत्युक्ति ही। गुप्तों के बाद हिन्दू राजाओं में शायद ही उनके समान चित्र-कला का प्रश्रयदाता और पारखी कोई दूसरा हुआ हो।

सहायक-ग्रंथ

Barnes, G. C.—Settlement Report of the Kangra District., Lahore, 1889.

Bernier, Francois—Travels in the Mogul Empire, 1656-69., London, 1914.

Cunningham, Alexander—Ancient Geography of India., London, 1871.

Cunningham, Alexander—Reports of the Archæological Survey of India Volumes I-XXIII.

Cunningham, J. D.—History of the Sikhs, New Edition, edited by H. L. O. Garrett. Oxford, 1918.

Drew, F.—The Jammu and Kashmir Territories., London, 1875.

Dutt, J. C.—Kings of Kashmir, Calcutta, 3 Volumes, 1879, 1887, 1898.

Dutt, Romesh Chander—A History of civilization in Ancient India, 2 Volumes, 1888, 1890.

Elliot, H. M.—The History of India told by the its own Historians, Volumes 1-8, London, 1867-77.

Elphinsotne, Mountstuart—The History of India., London. 1874.

Ferishta—History of the Rise of the Muhammadan Power in India. Translated by Briggs. Reprint 1908-09.

Fleet, J. D.—Corpus Inscriptionum Indicarum, Volume XIII.

Francke, A. H.—A History of Western Tibet. London, 1907.

Francke, A. H.—Antiquities of Indian Tibet, Part I, personal Narrative., Calcutta, 1914.

Francke, A. H.—Antiquities of Indian Tibet, Part II, Calcutta, 1926.

Franch, J. C.—Himalayan Art., Oxford, 1933.

Forster, G.—Travels, 2 Volumes, London, 1798.

Griffin, Lepal H.—The Punjab Chiefs. Lahore, 1865. The Rajas of the Punjab, Lahore 1870.

Harcourt, A. F. D.—The Himalayan Districts of Koolloo, Lahoul and Spiti. London 1871.

Hieun Tsiang—Si-Yu-Ki. Translated by Samuel Beal, 2 Volumes, 1884.

Ibbetson, D. C. J.—Outlines of Punjab Ethnography., Calcutta, 1833.

Journals of the Punjab Historical Society (J.P.H.S.)

Journal of the Royal Asiatic Society. (J.R.A.S.)

Khazan Singh—History and Philosophy of the Sikh Religion., Lahore, 1914.

Latif, Sayad Muhammad—History of the Punjab, Calcutta, 1891.

Lyall, J. B.—Settlement Report of the Kangra District., Lahore, 1889.

Massy, C. F.—Chiefs and Families of Note in the Punjab, Lahore, 1890.

Manucci Niccolao—Storia do Mogor or Moghul India, Translated by William Irvine., London, 1907-08.

Marshall, J. H.—Annual Report of the Archæological Survey of India., Calcutta 1904-1931.

Mc. Grindle, J. C.—Ancient India. Westminister, 1900.

Noorcroft, W, and Trebeck, G.—Travels 1819, to 1825. 2 Volumes, London, 1841.

Prinsep, H. T.—The Origin of the Sikh Power in the Punjab.

Ragozine Zendaide A.—Vedic India. (The Story of the Nations.)

Rapson, E. J.—Ancient India., Cambridge, 1914.

Rapson, E. J.—Indian Coins.

Rhys Davids, T. W.—Buddhist India. (The Story of the Nations.)

Smith, Vincent A.—The Early History of India Oxford, 1904.

Tod J.—Annals and Antiquities of Rajasthan. Reprint, 2 Volumes, Calcutta, 1899.

Ujfalvy, Von, K. E.—Aus Den Westlichen Himalaya, Leipzig, 1884.

Vigne, G. T.—Travels in Kashmir and Ladakh, 2 Volumes, London, 1842.

Vogel, J. Ph.—Catalogue of the Bhuri-Singh Museum, Chamba, 1909.

Kalhana—Rajatarangini. Annotated and translation by M.A. Stein., Westminister, 1900.

Vogel, J. Ph.—Antiquities of Chamba State, Part I. Calcutta, 1911.

Hutichison L.R.C.P. & S. R.

Vogel, J. Ph. D.—History of Punjab Hill States, 2 Volumes.

Kangra District Gazetteer.

आयन-ए-अकबरी : अबुल फ़ज़ल

अकबरनामा : अबुल फ़ज़ल

आलिमगीरनामा : मुहम्मद कासिम

बादशाहनामा : अब्दुल हमीद, लाहौर

दीवान-ए-साल्मान : सादबिन साल्मान

मग्रासिर-उल-उमरा :
मालफूज़ात-ए-तिमूरी : शाहनवाज़ खाँ
शाह फतह-ए-कांगड़ा : मुहम्मद जलाल तिबतिबा
तबक़ात-ए-अकबरी : निजामुद्दीन अहमद
तारीख-ए-अलफी : मौलाना अहमद और दीगर
तारीख-ए-बदायोनी : अब्दुल क़ादिर
तारीख-ए-दाऊदी : अब्दुल्लाह
तारीख-ए-फिरोजशाही : जयाउद्दीन बरनी
तारीख-ए-मुबारकशाही : यूसफ मुहम्मद खान
तारीख-ए-यामिनी : अलउत्बी
तुज़क-ए-जहाँगीरी : Jahangir's Memories,
अनुवादक—रोजर : बैवरिज
वाक़यात-ए-जहाँगीरी : द्वाज़दा सालाह जहाँगीरी
वाक़यात-ए-मुश्ताकी : रिजाकुल्लाह मुश्ताकी
उमदात-उत-तवारीख : सोहनलाल सूरी, अनु० : वी० एस० सूरी
तारीख-ए-कश्मीर-ए-आजमी :
तारीख-ए-राजगान-ए-राजवाड :
तवारीख-ए-राजपूतान, मुल्क-ए-पंजाब : ठाकुर काहनसिंह बलोरिया
तवारीख-ए-राजगान—जिला कांगड़ा : दीवान सर्बदयाल
तारीख-ए-राजगान पठानिया : मियाँ रंगनाथसिंह
मजमा-ए-तवारीख-ए-रियासतहाय कोहिस्तान-ए पंजाब :
सरदार हरदयालसिंह
धर्मचंद नाटक : मानिकचंद
दिलपरांगिनी :
Rhapsodies of Gambhir Rai
शशि-वंश-विनोद : गनेशसिंह